द्वितीय अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिदृश्य और मुस्लिम समाज

भारत का विभाजन पूरे भारतीय समाज को गहराई से प्रभावित करता दिखाई देता है। उसके बाद हुए सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों ने समाज के सभी लोगों पर प्रभाव डाला। उनके लिए विभाजित भारत में शांति से बेफिक्र होकर रहना संभव नहीं था। चूँकि मुस्लिम समाज विभाजित भारत में अल्पसंख्यक थे अतः उनकी स्थिति अधिक सोचनीय थी। एक प्रकार की असुरक्षा की भावना उनके भीतर भर गयी थी। तत्कालीन धर्मनिरपेक्ष की प्रतिमूर्ति गाँधी जी, नेहरू एवं तमाम नेता जो भारत को धर्मनिरपेक्ष देश के रूप में देख रहे थे, वे सभी लोग भारतीय अल्पसंख्यकों को यह विश्वास दिलाने की कोशिश कर रहे थे कि उन्हें इस मुल्क में बिना किसी अन्याय और भेदभाव के रहने दिया जा सके। काफी हद तक इसमें कामयाबी भी हासिल की जा सकी जिसके परिणामस्वरूप कम से कम जान-माल का नुकसान होकर मुस्लिम समुदाय भारतीय गणतंत्र का हिस्सा बना रहा और भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र होने का गौरव प्रदान हो सका। यह बात अलग है कि जमीनी तौर पर आज भी मुस्लिम समाज को बहुसंख्यकों द्वारा संदेह की दृष्टि से ही देखा जाता है, जिसके फलस्वरूप उनके जीवन पर आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक असर दिखाई पड़ता है। इस अध्याय में आजादी के बाद हुए बदलाव, भारतीय परिदृश्य और मुस्लिम समाज की परिस्थितियों का अध्ययन किया जायगा।

2.1 आर्थिक परिदृश्य

भारतीय समाज को जानने, समझने के लिए उसकी आर्थिक स्थिति को समझना ज़रूरी है। किसी भी समाज का सम्पूर्ण ढाँचा उस समाज की अर्थव्यवस्था पर ही आश्रित रहता है। किसी भी देश की बुनियाद वहाँ की अर्थ व्यवस्था पर निर्भर रहती है। आर्थिक अभाव में समाज का विकास संभव नहीं हो पाता है। इसीलिए समाज को विकसित करने एवं उसे सुचारू ढंग से चलाने के लिए एक अच्छी अर्थव्यवस्था का होना अनिवार्य है। बहरहाल भारतीय अर्थव्यवस्था

आरंभ से ही दयनीय रही है। गरीबी, बेरोजगारी भारतीय अर्थव्यवस्था का कमजोर पक्ष रहा है। भारत में रोजगार के अभाव में गरीबी अधिक मात्रा में बढ़ी है। भारत मूलतः कृषि प्रधान देश है और यहाँ की लगभग आधी आबादी कृषि पर ही निर्भर हैं। कृषि क्षेत्र लगभग घरेलु उत्पाद का 14 प्रतिशत योगदान देता है। परन्तु भारतीय कृषि व्यवस्था अधिक उन्नत नहीं है जिसके कारण क्षमता से कम ही उत्पादन हो पाता है। वर्तमान में भारतीय किसान प्रति हेक्टेयर भूमि पर 2.4 टन चावल ही उत्पादन करता है जो इसके वास्तविक क्षमता से बहुत कम है जबकि चीन और ब्राजील प्रति हेक्टेयर 4.7 और 3.6 टन चावल का उत्पादन करते हैं। परन्तु इसके बावजूद अभी भी कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी बनी हुई है।

वर्तमान भारतीय अर्थव्यवस्था संतोषजनक न होते हुए भी एक अच्छी स्थिति में है परन्तु आजादी के तुरंत बाद भारत की अर्थव्यवस्था अधिक सोचनीय थी। इस समय का भारत लगभग पूरी तरह से कृषि पर ही आश्रित था। लगभग 75% लोगों के जीवन यापन करने का श्रोत कृषि ही थी। तत्कालीन भारतीय अर्थव्यवस्था अल्पविकसित था। व्यापक दरिद्रता एवं अमीरों और गरीबों के बीच में खाई थी, जिसको पाटना आज भी मुश्किल बना हुआ है। लगातार हो रहे अकाल के कारण निर्धनता और बढ़ गई थी। भुखमरी एवं बढ़ती बिमारी ने लोगों की कमर तोड़ दी थी। इस समय के लोगों की बड़ी लड़ाई भूख और व्यापक रोगों से ही थी। इस पर विजय प्राप्त करना भारतीय समाज का प्रमुख लक्ष्य था। इस समय की भारतीय आर्थिक परिस्थिति को शब्दबद्ध करते हुए बिपिन चन्द्र जी लिखते हैं कि - “भारत की आजादी इसकी जनता के लिए एक ऐसे युग की शुरुआत थी, जो एक नए दर्शन से अनुप्राणित था। 1947 में देश ने अपने आर्थिक पिछड़ापन, भयंकर गरीबी, करीब-करीब निरक्षरता, व्यापक तौर पर फैली महामारी, भीषण सामाजिक विषमता और अन्याय के उपनिवेशवादी विरासत से उबरने के लिए अपनी लम्बी यात्रा की शुरुआत की।”[1] वास्तव में आजाद भारत के पास यह पहला मौका था जब उपनिवेशवादी राजनीतिक नियंतरण में प्रथम विराम चिन्ह लगा कर शताब्दियों से पिछड़े भारतीय

अर्थव्यवस्था को उन्नत बनाना था और पिछड़ेपन को समाप्त कर स्वतंत्रता संघर्ष के वादों को पूरा करना एवं भारतीय जनता की आशाओं एवं आकांक्षाओं पर खड़ा उतरना था।

जाहिर है कि भारतीय अर्थव्यवस्था को फर्श से उठाकर अर्श की ओर ले जाना था। परन्तु ये काम तत्कालीन प्रधान मंत्री नेहरू जी के लिए आसान नहीं था, फिर भी उन्होंने कोशिश की। उन्होंने पंचवर्षीय योजना लागु करके भारतीय अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने में अहम भूमिका निभाई। यह बात अलग है कि लाख कोशिशों के बावजूद भी इतनी बड़ी आबादी वाले भारत की अर्थव्यवस्था में कोई खास तरक्की नहीं हो पाई। आजादी के बाद लोगों ने जो सपने देखे थें वह धूमिल हो गए। लोगों का मोह भंग हुआ और एक बिंदु पर आकर लगने लगा कि आजादी प्राप्त का क्या अर्थ हुआ जब गरीबी वैसी की वैसी ही बनी है। लोग हताश-निराश होने लगे और आँखों के सामने बढ़ते बेरोजगारी ने उनके उत्साह को निराशा के बादल से ढक दिया। बकौल बिपिन चन्द्र - "यह सच है कि नेहरू और उनकी पीढ़ी ने, जिसने आज़ादी को आते हुए देखा था, यह आशा की थी कि देश इससे कहीं अधिक तरक्की कर पाएगा। फिर भी जनता और बुद्धिजीवी न केवल नेहरू युग में, बल्कि इंदिरा गाँधी के काल में भी कम से कम 1973-74 तक आशावादी बने रहे। परन्तु धीरे-धीरे उल्लास और आत्मविश्वास तथा अपनी उपलब्धियों में गौरव और उत्साह गायब होने लगा और उसकी जगह निराशा, अनुत्साह और हताशा ने ले ली।"[2] फिर भी लोगों के जीवन स्तर के मामले में काफी सुधार करने की गुंजाइश थी लेकिन उसे पूरा न किया जा सका। 1975 में फिर इंदिरा गाँधी सरकार द्वारा आपातकाल घोषित करना पड़ा जिससे देश की आर्थिक व्यवस्था और गर्त में लुढ़क गई।

नेहरू जी भले ही आर्थिक विकास को राष्ट्रीय एकीकरण के रूप में देखते थे और उन्होंने आजादी के ठीक बाद योजना आयोग का गठन भी किया साथ ही अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य में नियोजित आर्थिक विकास के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाए, लेकिन क्षेत्रीय आर्थिक विषमताओं को दूर नहीं कर पायें। दरअसल भारत को आजादी के बाद विरासत में एक ऐसी अर्थव्यवस्था

हाथ लगी जो दयनीय परिस्थिति में थी। उपनिवेशवाद ने समाज और अर्थतंत्र को भारी नुकसान पहुँचाया था। उसे विश्व के अन्य भागों में हो रहे आधुनिक परिवर्तनों से कोसों दूर रखा गया। अत्यंत गरीबी, बीमारी, निरक्षरता, उद्योगों की कमी और बर्बाद खेती के अलावा उपनिवेशवाद द्वारा भारतीय अर्थतंत्र में लाई गई विकृतियों ने भारतीय जनता की आत्मनिर्भर विकास का काम और कठिन कर दिया था। उदाहरणस्वरूप भारतीय अर्थतंत्र के विभिन्न हिस्सों के बीच तालमेल न होना और उसे ब्रिटेन के अर्थतंत्र पर निर्भर बना देना। इन सभी का खामयाजा स्वातंत्र्योत्तर भारत को भुगतना पड़ा। इन्हीं कारणों की वजह से भारतीय अर्थव्यवस्था को अपने पैरों पर खड़ा होने में बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा।

आजादी के बाद भारतीय उद्योग को बढ़ाने के लिए मशीनों का लगभग 89.8 प्रतिशत तक की जरूरतें विदेशों से आयात की जाती थीं, जिसके कारण भी विकास दर में कमी थी। लेकिन धीरे-धीरे भारत ने इस पर काम करना शुरू किया और 1974 में मात्र 9 फीसदी तक ही निर्भर रहना पड़ रहा था। इस समय तक आकर भारत में निवेश की मात्रा में काफी बढ़ोत्तरी हुई। भारत की अर्थव्यवस्था को मजबूत करने की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इससे यह हुआ कि विदेशों पर भारत की निर्भरता काफी कम हो गई। परन्तु प्रथम तीन योजनाओं की महत्वपूर्ण उपलब्धियों के बावजूद भी “साठ के दशक का मध्य आते-आते भारतीय अर्थतंत्र कई अर्थों में भारी संकट में फंस चुका था। विकासमान देश का अच्छा नमूना होने के बजाए भारत की छवि तेजी से ‘खतरनाक खाई’ वाली बनने लगी। 1965 और 1966 में मानसून लगातार खराब रहा। इसने धीमी पड़ती खेती की समस्या और भी बढ़ा दी। कृषि का उत्पादन 17 फीसदी तथा अनाज का उत्पादन 20 फीसदी गिर गया। अब तक मुद्रास्फीति की दर काफी नीचे बनाये रखी गई थी। 1963 तक वह 2 फीसदी प्रति वर्ष से अधिक नहीं थी। यह दर 1965 तथा 1968 के बीच तेजी से बढ़कर 12 फीसदी प्रति वर्ष हो गई। मुद्रास्फीति बढ़ने का एक कारण सूखा था। दूसरा कारण 1962 में चीन के साथ 1965 में पाकिस्तान के साथ युद्ध था, जिनके कारण प्रतिरक्षा खर्चे में

भारी वृद्धि हुई।"[3] भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए यह समय अत्यंत चिंताजनक था। उच्च मुद्रास्फीति दर का होना, विदेशी मुद्रा संतुलन का बिगड़ना, अनाज का भंडार का कम होना जिसके कारण आयात का बढ़ना और साथ ही कुछ इलाकों में अकाल की स्थिति कुल मिलाकर देश की आर्थिक स्थिति दयनीय हो चुकी थी। इसी समय सबसे बड़ी सहायता देने वाला देश अमेरिका ने 1965 के पाकिस्तान युद्ध के बहाने मदद बंद कर दी थी। अस्सी के दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था में कुछ हद तक सुधार आई थी जिससे गरीबी के स्तरों में उल्लेखनीय गिरावट आई थी। 1977-78 में गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों की संख्या लगभग 51.3 फीसदी थी जो कि घटकर 1987-88 में 38.9 फीसदी हो गई थी। इन दस वर्षों में जिस रफ़्तार से गरीबी कमी थी। नब्बे के दशक में उस रफ़्तार से इसमें कमी दर्ज नहीं की गई थी 1993-94 में यह 36 तक ही गिरा था।

भारतीय अर्थव्यवस्था की दशा नब्बे की दशक थोड़ी ख़राब ज़रूर थी, लेकिन नौवीं पंचवर्षीय योजना (1996-97 से 2000-01) में स्थिति थोड़ी सुधरी थी। इस योजना में सकल घेरलु उत्पाद में औसतन प्रति वर्ष 5.5 फीसदी की वृद्धि हुई थी भले ही वह तय उद्देश्य (6.5) से कम थी। दसवीं पंचवर्षीय योजना का आरंभ अच्छा नहीं हुआ था। 2002-03 में विकास दर महज़ 3.8 % ही थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक आर्थिक सुधार योजना के बावजूद गरीबी भारत के सामने सबसे बड़ी चुनौती बनी रही।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में मुसलमानों की स्थिति दयनीय है। वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है। इस पिछड़ेपन का मुख्य कारण उस समुदाय की गरीबी और अशिक्षा है। गौरतलब है कि किसी भी समाज को उन्नत होने के लिए उस समाज का शिक्षित होना आवश्यक है। शिक्षित व्यक्ति के पास रोजगार का अवसर अधिक होता है जिससे वह अपनी आर्थिक स्थिति को न केवल सुधार सकता है बल्कि साथ ही साथ देश की विकास दर को भी सुदृढ़ कर सकता है। अर्थात वह अपने निजी जीवन के साथ देश की अच्छी अर्थव्यवस्था कायम करने में

भी योगदान दे सकता है। बहरहाल मुस्लिम समाज शिक्षा के क्षेत्र में पीछे पड़ा हुआ है जिसके कारण इनकी आर्थिक स्थिति बहुत ख़राब है। मुस्लिम समाज शिक्षा के क्षेत्र में अपनी स्थिति को मजबूत बनाने की लगातार कोशिश कर रहा है और शिक्षा के प्रति जागरूक भी हो रहा है। परन्तु इसके बावजूद इनकी स्थिति शिक्षा के क्षेत्र में अन्य समाजों की तुलना में अच्छी नहीं हो पाई है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में शैक्षिक रूप से पिछड़े अल्पसंख्यकों के लिए कुछ विशेष ध्यान ज़रूर दिया गया परन्तु इसके बावजूद भी जमीनी हक़ीकत कुछ और ही बयां करती है, जिसका प्रमुख कारण उन नीतियों का सही ढंग से व्यवहार में नहीं लाना है। मुस्लिम नेताओं ने भी व्यावसायिक और तकनीकी शिक्षा बढ़ावा देने में बहुत लापरवाही की। इन सभी कारणों से भी मुस्लिम समुदायों में शिक्षा की कमी रही है।

यह सर्वविदित है कि मुस्लिम समाज में गरीबी और अंधविश्वास अन्य धर्मों की बनिस्बत अधिक है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण कार्यालय (NSSO) के 66वें दौर (2009-10) के आंकड़े के अनुसार मुस्लिम समाज में प्रति व्यक्ति मासिक खर्च 980 रुपये है जो कि अन्य धर्मों के मुकाबले सबसे कम है। हिन्दुओं का प्रति व्यक्ति खर्च 1125 रुपय, ईसाईयों का 1553 तथा सिक्खों का सबसे ज्यादा 1659 रुपये है।

भारत के प्रमुख धार्मिक समूहों में प्रतिव्यक्ति मासिक खर्च (रुपये में)[4]

धर्म	ग्रामीण क्षेत्र	शहरी क्षेत्र	औसत
मुस्लिम	833	1272	980
हिन्दू	888	1792	1125
इसाई	1296	2053	1553
सिक्ख	1498	2180	1659

गौरतलब है कि मुस्लिम समाज शैक्षिक रूप से पिछड़े होने के कारण सरकारी नौकरियों में उनकी पहुँच बहुत अधिक नहीं है। ये समाज मूलतः स्वरोजगार पर निर्भर है। इनका अधिकांश हिस्सा छोटे मोटे काम करके अपना पेट पालते हैं। मजदूरी करते हैं, कारखानों में काम करते हैं, रिक्शा चलाते हैं, सिलाई का काम करते हैं इत्यादि। स्वरोजगार पर निर्भर मुस्लिम समाज को उचित ऋण प्राप्त होना चाहिए जिससे उनका आर्थिक सामाजिक जीवन सुदृढ़ हो सके। सच्चर कमिटी भी यही मानती है कि- "मुसलमानों को वित्तीय असुविधा से उनके सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक उत्थान पर दूरगामी प्रभाव पड़ते हैं। स्वरोजगार मुसलमानों के लिए आय का प्रमुख स्रोत है। मुसलमानों को आर्थिक रूप से सशक्त बनाने के लिए यह आवश्यक है कि स्वरोजगार में जुटे व्यक्तियों को ऋण की समुचित व्यवस्था सुनिश्चित कर प्रोत्साहित किया जाए"[5] परन्तु सच्चाई यह है कि इस समाज को उस मात्रा में ऋण की सुविधा नहीं दी जाती है जिसके कई अलग-अलग कारण हैं। कमिटी को यह मालूम हुआ है कि उनके साथ भेद-भाव किया जाता है। साथ ही समिति को यह भी ज्ञात हुआ है कि कुछ बैंक स्वनिर्धारित मानदंडों पर कुछ कुछ क्षेत्रों को नकारात्मक क्षेत्र में शामिल करते हैं, जहाँ बैंक ऋण और अन्य सुविधाएँ आसानी से उपलब्ध नहीं कराये जा सकते हैं। ऐसी प्रक्रिया को अमेरिका को रेड लाइनिंग कहते हैं। वहीं भारत में इसे नेगेटिव जोन कहते हैं। ध्यातव्य है कि इस समुदाय के रोजगार बढ़ावा देने हेतु सरकार को सकारात्मक रूप से मदद करनी चाहिए और इन्हें ऋण उपलब्ध कराने हेतु यथासंभव कदम उठाने चाहिए।

मुस्लिम समाज की स्वरोजगार से संबंधित रिपोर्ट चौकाने वाले आंकड़े पेश करती है, "रोजगार की तीनों श्रेणियों में मुसलमानों की कुल कार्यक्षमता का करीब 61 प्रतिशत हिस्सा लगा है, जबकि हिन्दुओं में यह आंकड़ा करीब 55 फीसदी है। शहरी क्षेत्रों में 57 फीसदी मुसलमान स्वरोजगार में लगे हैं, जबकि हिन्दुओं में 43 प्रतिशत ही ऐसा करते हैं। महिलाओं की बात की जाए तो मुस्लिम महिलाओं के लिए यह आंकड़ा 73 फीसदी तक है, जबकि 60

प्रतिशत नौकरी पेशा हिन्दू महिलाएं स्वरोजगार से जुड़ी हैं।...मुस्लिम समुदाय में स्वरोजगार पर निर्भरता सामान्य मुसलमानों की तुलना में अन्य पिछड़ी जातियों के मुसलमानों में अधिक है। जहाँ सामान्य श्रेणी के 59 फीसदी मुसलमान ही स्वरोजगार पर निर्भर हैं, वहीं अन्य पिछड़ी जाति के मुसलमानों में यह आंकड़ा 64 फीसदी है।"[6]

मुस्लिम समुदाय की स्वरोजगार में भागीदारी अधिक होने का प्रमुख कारण है सरकारी नौकरियों में इनकी मौजूदगी का कम होना। 2006 की उपलब्ध सिविल सूचियों से मुस्लिमों की भागीदारी का पता चलता है। भारतीय सिविल सर्विस में उनका हिस्सा अन्य समुदायों से कम है। सच्चर कमिटी की रिपोर्ट के अनुसार "आई. ए. एस में मुसलमानों की मौजूदगी केवल तीन प्रतिशत ही पाई गई, जबकि आई. एफ. एस में यह 1.8 प्रतिशत और आई. पी. एस में चार प्रतिशत रही। इसके अतिरिक्त ऊँची नियुक्तियाँ पाने वाले मुस्लिम अधिकतर प्रोन्नत उम्मीदवार के रूप में ही ऐसा कर सके। प्रतियोगी परीक्षाओं के जरिए सीधी भर्ती में उनका हिस्सा घटकर क्रमशः 2.4 प्रतिशत, 1.9 प्रतिशत और 2.3 प्रतिशत ही है।"[7]

भारतीय रेल भारत की सबसे अधिक नौकरी देने वाला विभाग है परन्तु यहाँ भी मुस्लिम समाज की भागीदारी बहुत अधिक नहीं दिखती है। जो भी दिखती हैं वें अधिकांशतः निचले स्तर की पोस्ट पर काम करते हैं जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस क्षेत्र में भी मुस्लिम समाज को उचित भूमिका प्राप्त नहीं हो सकी है "भारतीय रेल करीब 14 लाख लोगों को नौकरी देती है। इनमें सिर्फ 64 हजार कर्मचारी मुस्लिम समुदाय से आते हैं, जो रेलवे की कुल नौकरी का महज़ 4.5 फीसदी है। इसमें भी रेलवे में नौकरी करने वाले लगभग सभी मुसलमान (98.7 प्रतिशत) निचले स्तर पर तैनात हैं"[8] सच्चर कमिटी की रिपोर्ट यह भी बताती है कि -

- देश में 88 लाख से अधिक सरकारी नौकरियों में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व मात्र 4.9 प्रतिशत है।

- मात्र 3.2 प्रतिशत प्रतिनिधित्व सुरक्षा एजेंसियों में है। 15.4 प्रतिशत मुस्लिम आबादी वाले राज्यों में मात्र 5.7 प्रतिशत मुस्लिम ही उच्च पदों पर है।
- शहरी क्षेत्रों में रह रहे लोगों में जहाँ 28 प्रतिशत जनसंख्या निर्धारित रेखा के नीचे है वहीं मुसलमानों में ये अनुपात सिर्फ 40 प्रतिशत है।
- ग्रामीण क्षेत्रों में रह रहे मुस्लिमों में 94.9 प्रतिशत निर्धनता रेखा के नीचे है।
- कृषि कार्यरत लोगों में 60.2 प्रतिशत मुसलमान भूमिहीन है।
- ग्रामीण मुसलमानों में 54.3 प्रतिशत और शहरी मुसलमानों में 60 प्रतिशत ने कभी किसी स्कूल में प्रवेश नहीं लिया।
- 60 प्रतिशत मुस्लिम कक्षा 10 तक नहीं पहुँच पाते।

अतः समग्रता में यह कहा जा सकता है कि भारत में मुस्लिम समाज का आर्थिक परिदृश्य अच्छा नहीं है। यह समुदाय जीवन यापन हेतु बहुत संघर्षरत है। इन्हें बेसिक सुविधा भी पूरे रूप में उपलब्ध नहीं है जिसके कारण भी यह समाज दिन-ब-दिन पिछड़ते जा रहे हैं। इस समाज के भीतर कहीं न कहीं सरकारी नौकरियों के प्रति भी घृणा का भाव है जिसका मूल कारण है सरकारी नौकरियों में उनके प्रतिनिधित्व का कम होना। इस क्षेत्र में उनका विश्वास कम है। अतः स्वरोजगार की तरफ मुड़ने के सिवा इनके पास कोई रास्ता शेष नहीं बचता।

स्वातंत्र्योत्तर मुस्लिम उपन्यासकारों के उपन्यासों की मदद से भी तत्कालीन मुस्लिम समाज की आर्थिक परिस्थिति को समझा जा सकता है। इन उपन्यासकारों के उपन्यास की पृष्ठभूमि आजादी के कुछ पहले से लेकर आजादी के कुछ बाद तक की है। आजादी से पहले मुस्लिम समाज की स्थिति लगभग अच्छी थी। परन्तु आजादी के बाद इनकी स्थिति दिन-ब-दिन ख़राब होती चली गई। यह मोहभंग का समय था और साहित्य में भोगे हुए यथार्थ का लेखन भी प्रचलन में आ गया था। उस समय के तमाम लेखक अपनी रचनाओं में अपने आस-पास के

जीवन और अपने अनुभव को व्यक्त कर रहे थे। ये तमाम लेखक सिर्फ द्रष्टा नहीं थे अपितु भोक्ता भी थे। यही कारण है कि इस समय के उपन्यासों में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण मिलता है। शानी अपने उपन्यास 'काला जल' में दो परिवारों की तीन पीढ़ियों की कहानी के माध्यम से मुस्लिम समाज के ढहते आर्थिक परिस्थितयों का अंकन किया है। यह उपन्यास लगभग 1910 से कुछ पहले से लेकर आजादी के कुछ बाद तक के कालखंड को अपने में समेटे हुए है। इसमें मिर्जा करामत बेग से लेकर मोहसिन तक की पीढ़ी की कहानी कही गई है। मिर्जा के समय उनकी स्थिति अच्छी रहती है। लेकिन धीरे-धीरे मोहसिन तक आते-आते इनकी आर्थिक स्थिति ख़राब हो जाती है। मुस्लिम होने के कारण आजादी के बाद ये लोग दोयेम दर्जे के नागरिक के रूप में गुजर-बसर करने को मजबूर कर दिए जाते हैं जिसका असर रोजगार पर भी पड़ता है। मोहसिन आजादी के लिए नायडू के साथ मिलकर क्रांति का भी सूत्रपात करता है। परन्तु आजादी मिलने के बाद उसका सुख हिन्दू नेताओं को ही मिलता है मोहसिन जैसा मुस्लिम कार्यकर्त्ता हाशिये पर धकेल दिया जाता है। निराश-हताश मोहसिन आजादी के बाद के पूरे मुस्लिम युवा का प्रतीक बन जाता है। रोजगार के अभाव में भटकते मोहसिन और बब्बन के संवादों को देखा जा सकता है- "तुम सुनों मोहसिन कैसे हो? तुमने तो कहीं नौकरी कर ली है न?..."कौन मैं?" वह हंसने लगा, "पहले करता था, इधर अब छूट गई है तो सड़कें नापता हूँ।""[9]

राही मासूम रज़ा के 'आधा गाँव' में भी आजादी के कुछ पहले से आजादी के कुछ बाद तक की कथा कही गई है। राही जी इस उपन्यास में ग्रामीण परिवेश के सामंत मुस्लिम सैयद परिवारों की टूटती जमींदारी और आजादी के बाद इन सामंतों की बिगड़ती आर्थिक परिस्थितियों को दिखाया है। आजादी के पहले ये जमींदार जमींदारी का बहुत लाभ उठाया था। परन्तु जमींदारी जाने के बाद इनकी हालत खराब हो गई जिसके कारण अधिकांशतः मुस्लिम परिवार पाकिस्तान भाग गए और जो रह गए वो पुराने दिन को याद करके रोते हुए अपने बाकी के जीवन को काटने को मजबूर हो गए। "सबका यही हाल था हर घर में अंबारों बक्स थे। हर जनाने कबरबंद में

कुंजियों का भारी गुच्छा था, पर बक्स खाली थे। तालों की कोई ज़रूरत नहीं थी, पर औरतें कुंजियों के गुच्छों से चिमटी हुई थीं। क्योंकि वही उनकी खुशहाली के जमाने की यादगार रह गये थे।"[10]

राही दिखाते हैं कि आजादी मिलने एवं पाकिस्तान निर्माण के बाद अनेकों कारणों से गंगौली गाँव की आर्थिक स्थिति खराब हो गई थी। गाँव के लगभग मियाँ अब उधारी पर चलने लगे थे। यह स्थिति समूचे भारत की हो गई थी। राही ने आधा गाँव के माध्यम से पूरे देश की आर्थिक संकट को सामने लाने का प्रयास किया है। अब्बू मियाँ भी फुस्सू की दूकान से कई बार जूते ख़रीदे लेकिन पैसा नहीं दे पाते थे कहते थे "हम चल रहे हैं, दाम हम शगुन के ज़माने में देंगे अभी हमारे पास पैसा रुपया ना है।"[11] फुस्सू भी क्या करते उसे भी अपने गाँव की हालत पता थी। हम्माद मियाँ और जवाद मियाँ के अलावा सभी के यहाँ फुस्सू का उधार था, लेकिन सभी देने में असमर्थता प्रकट करते है जिससे गाँव की आर्थिक संकट का पता चलता है। राही मासूम रज़ा इस आर्थिक दुरावस्था को इस प्रकार व्यक्त करते हैं- "हम्माद मियाँ और जवाद मियाँ के अलावा तक़रीबन तमाम मियाँ लोग उनके मकरूज़ थे और वह किसी से तकाज़ा नहीं कर सकते थे। अब वह उन हुसैन अली मियाँ से तकाजा क्या करते जो अपने मकान की परदे की दीवार की मरम्मत न करा सकते हों!"[12] बदीउज़्ज़माँ के 'छाको की वापसी' उपन्यास में भी छाको रोजगार के अभाव में दर-दर भटकता है फिर भी उसे चैन नहीं आता है। वह काम की तलाश में पूर्वी पाकिस्तान पहुँच जाता है जिसके कारण उसका अपना वतन छूट जाता है। इब्राहीम शरीफ़ के 'अँधेरे के साथ' में कथानक ख़राब आर्थिक परिस्थितयों के कारण अपने बीमार माता-पिता का इलाज नहीं करवा पाता है परिणामस्वरूप उनकी मौत हो जाती है। काम के रास्ते में भी धार्मिक राजनीति खड़ी हो जाती है जिसके कारण कथानायक को काम से हाथ धोना पड़ता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर मुस्लिम समाज की आर्थिक परिस्थितियाँ दयनीय थीं। आजादी के बाद भारत में रह गए मुस्लिम समाज को एक साथ कई कठिन परिस्थितियों से गुजरना पड़ा, जिसमें उनकी ढहती आर्थिक परिस्थिति महत्वपूर्ण है।

संदर्भ सूची:

1. बिपिन चन्द्र, आजादी के बाद का भारत, पृष्ठ-1
2. वही, पृष्ठ-10
3. वही, पृष्ठ-465
4. भारत में प्रमुख धार्मिक समूहों में रोजगार एवं बेरोजगार की स्थिति, एन.एस.एस.ओ. 66 वें दौर (2009-10) की रिपोर्ट, पृष्ठ-25
5. सच्चर कमिटी रिपोर्ट (2006), भारत सरकार पृष्ठ-124
6. वही, पृष्ठ- 83
7. वही, पृष्ठ-153)
8. वही, पृष्ठ-155
9. शानी, काला जल, पृष्ठ-287
10. राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृष्ठ-329
11. वही, पृष्ठ-328
12. वही, पृष्ठ-328

2.2 राजनीतिक परिदृश्य

'राजनीति' का अर्थ होता है राज की नीति अर्थात ऐसी नीति जिससे राज्य के सभी निवासियों के अधिकार, स्वास्थ्य एवं स्वच्छ प्रशासन का संचालन हो सके। अच्छी शिक्षा व्यवस्था सुनिश्चित हो सके। डॉ. गंभीर के अनुसार- "राजनीति का पर्यावाची अंग्रेजी शब्द 'पॉलिटिक्स' होता है जो यूनानी भाषा के 'पोलिस' (polis) शब्द से बना है, जिसका अर्थ उस भाषा में नगर अथवा राज्य है। धीरे-धीरे राज्य का स्वरूप बदला, नगर का स्वरूप बदला और राज्यों का स्थान राष्ट्रीय राज्यों ने ले लिया और राज्य की नीति राजनीति बन गई राजनीति राज्य से संबंधित विधा हो गई"[1] भारतीय समाज पर राजनीति का गहरा असर पड़ा है। राजनीति एक ऐसी चीज है जिसका प्रभाव चाहे अनचाहे प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत का प्रमुख राजनीतिक दल कांग्रेस था। आजादी के पहले भारत में अंग्रेजी सत्ता कायम थी जिससे मुक्ति हेतु सम्पूर्ण भारत में गाँधी जी के नेतृत्व में जन आन्दोलन चला। एक लम्बे संघर्ष के बाद भारत को ब्रिटिश सत्ता से आजादी मिली। इस आजादी ने लोगों में अनेक सपनों को जन्म दिया। शिक्षा, स्वास्थ्य, मौलिक अधिकार, रोजगार इस तरह की तमाम आकांक्षाएं थीं। परन्तु आजादी के बाद धीरे-धीरे लोगों को पता चला कि आम जनमानस की जिन्दगी में कोई खास परिवर्तन नहीं आया, आजादी महज़ सत्ता का हस्तान्तरण था। इस प्रकार लोगों का मोह भंग हुआ और समाज में संत्रास और कुंठा बढ़ गया। नेहरू सरकार ने जो भी वादे किये थे वे सारे खोखले निकले। तरह-तरह की घोषनाएं हो रही थी जिसके फलस्वरूप कांग्रेस ने आजाद भारत में पहली दफा लोकतान्त्रिक सरकार बनाई। परन्तु आजाद भारत में जो नेता चुने गए उसमें से अधिकांशतः स्वार्थी एवं सत्ता लोलुप निकले जिसका आम जनमानस से कोई विशेष सरोकार नहीं था।

ऐसे वक्त में नेहरू और शास्त्री से लोगों की अपेक्षाएं और अधिक बढ़ गई थी। नेहरू ने आजाद भारत को धर्म निरपेक्ष घोषित करते हुए अल्पसंख्यकों के लिए यह सुनिश्चित किया कि भारत सभी धर्मों का सम्मान करता है और करता रहेगा। भारत का संविधान सभी धर्मों और पंथों को समान संरक्षण एवं समान अधिकार देगा। आजाद भारत की ये सबसे खुबसूरत उपलब्धि थी कि देश किसी धर्म विशेष अथवा पंथ विशेष का गुलाम नहीं हुआ बल्कि एक लोकतान्त्रिक देश बना। इन सब के बीच देश का बँटवारा और भीषण साम्प्रदायिक दंगों ने लाखों लोगों की जिन्दगी छीन ली। जिसके बाद भारतीय मुसलमान राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से हाशिये पर चला जाता है। आजादी के बाद हुए साम्प्रदायिक दंगे धर्म के आर में की गई राजनीति का परिणाम था जिसके नायक स्वयं जिन्ना जी थे। साम्प्रदायिकता के उदय के विषय में बिपिन चन्द्र जी का मानना है कि “साम्प्रदायिकता का उदय आधुनिक राजनीति के उदय से जुड़ा हुआ है। आधुनिक राजनीति प्राचीन मध्ययुगीन या 1857 के पहले की राजनीति का सीधा विकास ही है।..साम्प्रदायिक चेतना का जन्म उपनिवेशवाद के दबाव तथा उसके खिलाफ संघर्ष करने की ज़रूरत से उत्पन्न परिवर्तनों के कारण हुआ।”[2] गौरतलब है कि विभाजन धर्म के आधार पर हुआ था जिसका उद्देश्य एक अलग राष्ट्र की स्थापना कर राजनीतिक सत्ता हथियाना था। इस सत्ता के लिए आम मुसलमानों की धार्मिक भावना को उभारकर एक ऐसा माहौल तैयार किया गया जिसके बनिस्बत हिंदुस्तान-पाकिस्तान को अलग किया जा सका। धर्म के नाम पर राजनीतिक रोटियाँ सेकने वाले साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देते हैं। इस विषय में रामशरण शर्मा जी कहते हैं कि - “जब राजनीतिक उद्देश्य से धर्म के नाम पर उसके अनुयायियों को उभारा जाता है तब साम्प्रदायिकता का उदय होता है।”[3]

नेहरू और शास्त्री की मृत्यु के पश्चात भारतीय राजनीति विषम परिस्थिति में चली जाती है। ऐसे समय में कांग्रेस की कमान इंदिरा गाँधी संभालती हैं और कई क्रांतिकारी कदम उठाती हैं। यहाँ से भारतीय लोकतंत्र में एक नया अध्याय जुड़ता है। इनसे लोगों की सोयी हुई आशा एक

बार फिर से जाग उठती है। परन्तु समय के साथ एक बार फिर से लोगों को निराशा ही हाथ लगती है। इस बीच पाकिस्तान से युद्ध होता है जिसके परिणामस्वरूप पूर्वी बंगाल पाकिस्तान से अलग होकर सन् 1971 में बांग्लादेश के रूप में एक नए देश का जन्म होता है।

1974 तक भारतीय जनता परिवर्तन की निगाह से इंदिरा गाँधी को ताकती रहीं, परन्तु उसके हाथ 1975 में जबरदस्ती की आपातकाल लगी। यह इमरजेंसी लोगों पर थोपा गया था, उसके अधिकारों का हनन किया गया था। यह समय संक्रमण काल का था, राजनीतिक गलियारे में हलचल मच गई थी। कांग्रेस पार्टी के दो टुकड़े हो गए थे। आपसी मतभेद एवं आन्तरिक वैचारिक विषमता के कारण दो (वामपंथी और दक्षिण पंथी) गुटों में विभाजित कांग्रेस अलग-अलग राजनीतिक यात्रा को निकल पड़े। इन सभी के बीच आम जनमानस पिस्ता रहा और एक सुदृढ़ सरकार की तरफ देखने लगी थी। इमरजेंसी ख़तम होने के तुरंत बाद चुनाव की घोषणा हुई। आपातकाल से प्रतारित जनता ने जनता पार्टी को बहुमत दी जिसके परिणामस्वरूप मुरारजी देशाई उस समय प्रधान मंत्री बने। परन्तु यह सरकार भी कुछ खास नहीं कर पायी और सरकार बीच रास्ते में ही गिर गई। इसके पश्चात हुए चुनाव में एक बार फिर जनता का विश्वास अर्जित करने में इंदिरा गाँधी सफल हुई। 1984 में इंदिरा गाँधी की हत्या ने देश को सदमें डाल दिया और एक बार फिर से सिख दंगा ने भारतीय राजनीति को अस्त व्यस्त कर दिया। इसके पश्चात कई नई राजनीतिक पार्टियों का जन्म हुआ जिसमें मुख्य रूप से भारतीय जनता पार्टी ने राष्ट्रीय स्तर पर अपनी न केवल पहचान बनाई बल्कि बीस वर्ष के अन्दर ही इतनी मजबूत हो गई कि सरकार भी बना ली। उसके बाद सन् 2014 में एक बार फिर बहुमत हासिल कर केंद्र में सरकार बनाई। वर्तमान भारत में भाजपा की सरकार है। बहरहाल भाजपा अपने आरंभ से ही हिंदुत्व की एजेंडा लेकर अपनी राजनीति चमकाई है। भा. ज. पा के राजनीति में आने के पश्चात से ही एक अलग तरह की वैचारिक पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ, जिसके तहत हिंदुत्व के चेहरे के बलबूते सत्ता हासिल करने की कोशिश करती रही है। इन सभी के बीच 1992 में बाबरी मस्जिद विध्वंस करके

हिन्दू-मुस्लिम को पूरी तरह से दो फांकों में बाँट देता है। इस प्रकार भारतीय राजनीति में धीरे-धीरे ऐसी राजनीतिक विचारधारा का सूत्रपात हुआ जिसके कारण लोकतान्त्रिक प्रक्रिया शिथिल हो गई। लोगों के अधिकारों को अनदेखा किया गया साथ ही उसके मूल-भूत जरूरतों को पूरा करने में असमर्थ साबित हुए।

स्वतंत्रता के बाद देश की राजनीति में जाति और धर्म के नाम पर गुटबंदी आरंभ हो गया। तुष्टिकरण की राजनीति का प्रारंभ हो गया था। प्रत्येक दल में जातिगत एवं धार्मिक आधार पर टिकट का बँटवारा होने लगा। इस प्रकार जनता भी विभाजित होने लगी। जाति के आधार पर मुख्य रूप से बिहार में 'जनता दल यूनाइटेड' और उत्तरप्रदेश में 'समाजवादी पार्टी' आदि को देखा जा सकता है जिसमें जातीयता एवं भाई-भतीजावाद देखा जा सकता है। भाई-भतीजावाद वर्तमान समय की सोचनीय समस्या है। परन्तु इस तरह की राजनीति भारतीय समाज के लिए अच्छी नहीं है उसके कई सारे दुष्परिणाम भारतीय राजनीति और समाज को भुगतना पड़ता है - "जातिवाद संकुचित मनोवृत्ति का परिणाम है। जातिवादी विचारों से प्रभावित व्यक्ति सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र की तुलना में जाति को श्रेष्ठता देता है और अपनी ही जाति के स्वार्थ के लिए कार्य करता है। जातिवादी विचारों से प्रेरित व्यक्ति राष्ट्र समाज का अहित कर अपनी जाति की उन्नति एवं कल्याण की कृति करने में पीछे नहीं हटता"[4] भाई-भतीजावाद और जातीय समीकरण को साधने वाली राजनीति के संदर्भ में नई कहानी की भूमिका में कमलेश्वर जी लिखते हैं कि - "राजनीतिक क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता, भाई-भतीजावाद, जातिवाद, प्रांतवाद जैसे फोड़े राष्ट्र के शरीर में एकाएक फूट पड़े और चारों ओर मवाद, सड़ते मांस और गंदे खून की महक भर गई"[5] सवाल यह उठता है कि जातिगत आधार पर की जा रही राजनीति भारत को किस ओर ले जा रहा है। जाहिर है इस तरह की राजनीति सिर्फ सत्ता को हथियाने का साधन है, जिससे आम जनता का विकास नहीं हो पाता है। उदाहरण के तौर पर बिहार और उत्तर प्रदेश की जातिगत सरकार को देख सकते हैं जिसके कार्यकाल में बिहार, यूपी की समस्याओं को कितना

नजरअंदाज किया गया है। आज भी इन राज्यों के गरीब परिवारों की रोजी-रोटी दूसरे राज्यों पर आश्रित है। यहाँ की शिक्षा व्यवस्था पर हमेशा सवाल उठता रहा है। अतः कहा जा सकता है कि इस तरह की राजनीति करने से अच्छा है जनता की मूल समस्याओं पर ध्यान देकर उनके जीवन को समस्या रहित बनाने की कोशिश की जाए। यतीन्द्र सिंह के शब्दों में कहे तो - "वस्तुतः जो भी दल किसी जाति या धर्म पर आधारित है उन्होंने संकीर्णता, क्षेत्रीयता, धार्मिक अलगाव की भावना को और पुष्ट ही किया है। आवश्यक तो यह है राजनीतिक नेतृत्व संवैधानिक दायरे में रहते हुए निम्न एवं मध्य वर्ग की वास्तविक समस्याओं को पहचान कर उनका निदान करें। एक निर्भीक और स्वस्थ वैज्ञानिक परम्परा की स्थापना करें जो जनता और राष्ट्र के हित में हों।"[6] इस काल में मध्यवर्ग का भारतीय राजनीति में विशेष हस्तक्षेप था और वर्चस्व भी। कुल मिलाकर भारतीय राजनीति का निर्णायक प्रतिनिधि वर्ग बन चुका था। यही कारण था कि सामाजिक परिवर्तनों में भी इस वर्ग की सबसे सक्रीय एवं प्रभावी भूमिका थी।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में मुसलमानों की स्थिति राजनीतिक दृष्टिकोण से सबसे अधिक गंभीर है। आजादी के बाद राजनीतिक क्षेत्र में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने वाले बहुत कम लोग बचे थे। इसका एक कारण यह भी था कि देश के विभाजन के पश्चात अधिकांशतः शिक्षित एवं संबृद्ध व्यक्ति नए अवसर की तलाश में पाकिस्तान चले गए थे। शेष मुसलमानों में ज्यादातर गरीब, असहाय और अशिक्षित थे। अतः बचे हुए मुसलमानों की अगुवाई करने वाले मुस्लिम नेता की कमी आ गई थी। -"पाकिस्तान बनने के बाद इन विशिष्ट वर्गों के बड़े भाग ने वहीं बसने का फैसला किया। फलस्वरूप मुस्लिम समुदाय ने उस दशक में जिन्हें अपना नेता माना था वे और पुराने नवाब, जागीरदार और अफसर या सुशिक्षित लोग जनसाधारण को छोड़कर शासन के नए अवसरों के उपयोग के लिए चले गए"[7] जिन मुसलमानों ने भारत में रहने का फैसला किया अथवा किन्हीं कारणों से पाकिस्तान नहीं जा पाया वैसे मुसलमानों को अपनी अस्मिता की लड़ाई बिना किसी प्रतिनिधि के ही लड़ते रहना पड़ा। राजनीति में इनका कोई भी रहबर नहीं था

जिससे ये समुदाय अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक हिफाजत करता। इस समुदाय को आजाद भारत में दोहरी नागरिकता का दंश झेलना पड़ा। बार-बार वतनपरस्ती के सवालों से जूझना पड़ा। देश के सर्वोच्च पदों पर मुसलमानों की कमी थी। सेना के जवानों में भी मुस्लिम समुदाय का चयन बहुत कम होता था। ये सभी मुद्दे कहीं न कहीं मुस्लिम समुदायों के साथ हो रहे राजनीति का ही हिस्सा है। भारतीय राजनीति में इन मुसलमानों को न केवल वोट बैंक के तौर पर व्यवहार में लिया जाता रहा है बल्कि उसे उसके अधिकारों से भी सदैव वंचित रखा गया। मुस्लिम समुदाय की राजनीतिक स्थिति धीरे-धीरे दयनीय होती चली गई जिसके परिणाम स्वरूप ये समाज आर्थिक, सामाजिक रूप से भी पिछड़ गए। मुस्लिम समाज के पिछड़े होने के कारणों को बताते हुए सुनील यादव जी कहते हैं कि - "मुस्लिम समाज की एक बड़ी समस्या यह भी है कि उसके पास कोई अपना राजनीतिक मंच नहीं है, इसी कारण देश की तमाम पार्टियों ने उन्हें केवल वोट बैंक के रूप में इस्तेमाल किया है। 2011 की जनगणना के अनुसार 14.2 फीसदी मुस्लिम आबादी है। इतनी आबादी के हिसाब से लोकसभा में 72 मुस्लिम संसद होने चाहिए जबकि 16 वीं लोकसभा में मात्र 23 सांसद हैं। ये आंकड़े मुस्लिम समाज के अन्य क्षेत्रों में भागीदारी की तरह ही चिंताजनक हैं। भारतीय मुसलमानों ने भारतीय लोकतंत्र में देश के अन्य समुदायों की तरह ही विश्वास किया है, फिर भी उसे वह भागीदारी मिलनी बाकी है जो अन्य समुदायों को मिल चुकी है।"[8] ध्यातव्य है कि मुस्लिम समाज राजनीतिक दृष्टिकोण से अन्य समाज की तुलना में बहुत पीछे है। इस समाज को जागरूक होना पड़ेगा और अपनी लड़ाई लोकतान्त्रिक ढंग से स्वयं लड़ना होगा। साथ ही अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़ती रहनी होगी। लेकिन सिर्फ अस्मिता के सवालों में स्वयं को उलझाये रखने से नहीं होगा इसके साथ इस समाज की राजनीतिक प्रतिनिधित्व का सकारात्मक वृद्धि करना पड़ेगा। तब जाकर समाज की मूलभूत समस्याओं का निदान हो सकेगा।

भारत में सबसे अधिक मुस्लिम आबादी उत्तर प्रदेश में है, उसके बाद बिहार और असम का नंबर आता है। इन राज्यों में मुस्लिम समाज व्यापक स्तर पर हैं। बिहार में मुस्लिम समाज बिहार के जनसंख्या का लगभग 17.04 प्रतिशत है। परन्तु उस अनुपात में इस समाज का प्रतिनिधित्व राजनीति में दिखाई नहीं देता है। ऐसा माना जाता है कि जिस समाज का राजनीति में जितना अधिक प्रतिनिधित्व रहेगा उतना उस समाज का विकास होगा। इस लिहाज से देखें तो राजनीति में मुस्लिम समाज बहुत कम मात्रा में है और इस समाज का विकास भी अन्य समाज के बनिस्बत कम हुआ है। इस समाज में कुछ कद्दावर नेता हुए हैं जो अपने समाज का प्रतिनिधित्व करके उसके आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिवेश को संबल करने का काम किया है। जिसमें मुख्य रूप से ग़ुलाम नबी आजाद, आजम खान, असदुदीन ओवैसी, अज़मल जी आदि का नाम लिया जा सकता है। इसके अलावा राष्ट्रपति के रूप में अब्दुल कलाम और हामिद अंसारी जी का नाम भी लिया जा सकता हैं। आजादी के बाद से बिहार विधान सभा के कुछ आंकड़ों से मुस्लिम प्रतिनिधित्व का आकलन किया जा सकता है। अली अनवर जी के द्वारा दिए गए इन आंकड़ों में मुस्लिम समाज का बहुत कम प्रतिनिधित्व दिखाई पड़ता है। "आजादी के बाद पहले विधान सभा चुनाव (1952) में 25 मुस्लिम विधायक चुनकर आये थे 1957 के चुनाव में भी यह संख्या बनी रही। 1962 में यह संख्या घट कर 20 हो गई। 1967 के चुनाव में सबसे कम सिर्फ 12 मुस्लिम विधायक जीते 1969 में यह संख्या बढ़कर 17 हुई। 1972 में 24 पर उछली। 1977 में एक कम होकर 23 पर आई। 1980 में मुसलमान विधायकों की संख्या 29 पहुँच गई। 1985 का विधान सभा चुनाव मुसलमान राजनीतिज्ञों के लिए फायदेमंद रहा जब इनकी संख्या बढकर 33 हो गई। फिर ढलान शुरू हुआ। 1990 में यह संख्या 20 पर चली आयीं। 1995 में कुछ 23 मुसलमान ही जीते।"[9]

मुस्लिम समाज की राजनीतिक विडंबना यह भी है कि एक तरफ राजनीति में इनकी संख्या कम है, दूसरी तरफ इनके अन्दर अगड़े-पिछड़े की लड़ाई भी है। मुस्लिम समाज में

जातिगत संरचना हिन्दू समाज की तरह ही भेद-भाव बरतती है। इस भेदभाव के कारण ही निचली जाति के मुस्लिम नेता को अगड़ी जाति के मुस्लिम नेताओं और मौलाओं द्वारा दबाया जाता है। उन्हें आगे बढ़ने से रोका जाता है। उनका राजनीतिक शोषण होता है। अगड़े-पिछड़े के इस खेल में आम मुस्लिम समाज को घाटा होता है। क्यूंकि इससे उस समाज में फूट पड़ती है और असल समस्या की ओर ध्यान न देकर खुद की राजनीति चमकाने में ऊँची जाति के मुस्लिम नेता लगे रहते हैं। मुस्लिम समाज में शिक्षा की कमी होने के कारण इस समाज के जो आम लोग हैं उन्हें आसानी से बहला फुसला लिया जाता था। धर्म और कुरान की बात कहकर इनकी वोट हासिल कर लेता था परन्तु जब इनके अधिकारों की बात आती थी तब ये मुस्लिम जननायक पिछड़े मुस्लिम समाज को ठेंगा दिखा देते थे। परन्तु धीरे-धीरे इस समाज की स्थिति बदली है। छोटी जाति के मुस्लिम समाज कुछ हद तक जागरूक हुए हैं और अपने अधिकारों के लिए एकजुट होकर मसावात की जंग लड़ रहे हैं। अली अनवर जी को माने तो उनका कहना है कि - “चाहे लोकसभा का चुनाव हो या विधान सभा का जब पिछड़े वर्गों का कोई उम्मीदवार किसी पार्टी से खड़ा होता है तो उस पर जोलहा, धुनिया, कुंजड़ा का स्टीकर चस्पां कर दिया जाता है। मगर तबका-ए-अशराफिया का कोई आदमी चुनाव में किसी भी पार्टी या निर्दलीय की हैसियत से खड़ा होता है तो उसे मिल्लत-ए-इस्लामियाँ का नेता, पूरे कौम का रहबर बताकर सभी मुसलमानों से एकजुट होकर उसे जिताने की अपील की जाती है। सीधे-सादे गरीब और पिछड़े मुसलमान उन्हें जीताकर भेज भी देते थे”[10]

हाल के वर्षों में मुस्लिम समाज की राजनीतिक चेतना जगी है। अब उनसे केवल हिन्दू धर्म के नाम पर वोट नहीं माँगा जा सकता है। अब ये समाज अपने धर्म के अन्दर भी एक लड़ाई लड़ रहे हैं जो उनकी जातिगत भेद-भाव से संबंधित है। इन्हें अब समझ आ चुका है कि राजनेता गरीब छोटी जाति के मुसलमानों का वोट लेकर उसे भूल जाते हैं और उनकी समस्याओं को नजरअंदाज करते रहते हैं। उनकी जो मूलभूत समस्या है उस पर किसी अगड़े मुस्लिम नेता की

नज़र नहीं जाती है। समाज में उसे आरक्षण की ज़रूरत है ताकि उसकी अगली पीढ़ी सिर्फ मल ढोने के काम तक सीमित न रहे। उन्हें आरक्षण मिले जिस प्रकार हिन्दू दलितों को अनुसूचित जाति का आरक्षण प्राप्त है। आरक्षण के माध्यम से दलित हिन्दू समाज देश के मुख्य धारा से जुड़ रहे हैं और सम्मानित पदों पर सुशोभित हो रहे हैं। इस प्रकार उस समाज की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति सुधर रही है। ठीक इसी प्रकार मुस्लिम समाज के अजलाफ और अरजाल वर्ग के लोग आगे बढ़ना चाहते हैं तथा जातिगत भेद-भाव से मुक्ति पाना चाहते हैं। परन्तु इस समाज के कथित ऊँची जाति के नेता इसमें बाधा उत्पन करने का काम करता है। बिहार के विधान सभा चुनाव की बात करते हुए एवं वहाँ के दलितों बनाम अशराफों की लड़ाई के संदर्भ में अली अनवर जी का मंतव्य इस प्रकार है जो वहाँ के दलित मुस्लिम समाज की राजनीतिक स्थिति को कुछ बेहतर ढंग से स्पष्ट करती है- "बिहार की मुस्लिम राजनीति में अगड़े-पिछड़े का सवाल अब खुलकर सामने आ गया है। पिछड़े वर्ग के मुसलमानों को इस विधान सभा चुनाव में हालाँकि पिछले किसी भी चुनाव से ज्यादा सीटें मिलीं फिर भी राजनीतिक हलकों में अगड़े मुसलमान नेताओं का दबदबा बदस्तूर कायम रहा। उनका यह दबदबा अगर टिकट बाँटने वाली पार्टियों के नेताओं पर होता और लड़कर वे उनसे ज्यादा सीटें हासिल करते तो बात समझ में आती। दुर्भाग्यवश उनका सारा जोर पिछड़े मुसलमानों का टिकट कटवाने तथा चुनाव में उन्हें हरवाने पर लगता दिखाई पड़ता है।"[11] ध्यातव्य है कि मुस्लिम समाज विशेषकर निचली जाति के, अपनी राजनीतिक पहचान स्थपित करने की पुरजोर कोशिश कर रहा है। तमाम बाधाओं के बावजूद वे अपनी पहचान स्थापित करने के लिए प्रतिबद्ध हैं।

किसी भी समाज में घटने वाली घटनाएँ वहाँ के साहित्य और लोक दोनों पर गहरा असर डालता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का समय साहित्य में घोर निराशा के युग के रूप में दिखाई देता है जिसके कई आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक कारण हैं। ध्यातव्य है कि स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में राजनीति की दशा एवं दिशा का व्यापक वर्णन किया है।

मुस्लिम समाज की समस्याएं एवं उनकी अस्मिता के प्रश्न के संबंध में राही मासूम रज़ा, गुलशेर खां शानी, बदीउज़्ज़माँ, इब्राहीम शरीफ़ के उपन्यासों को देखा जा सकता है।

आजादी प्राप्ति के बाद देश की आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ संकट के दौर से गुजर रही थी। आजाद भारत को लेकर जिस तरह के सपने लोगों के ज़ेहन में थे, वे सभी भड़भड़ाकर टूट गए। मोहभंग के इस काल ने साहित्य पर भी विषम प्रभाव डाला। शानी भी इससे वंचित नहीं रहे उन्होंने अपने पहले उपन्यास 'काला जल' में तत्कालीन राजनीति के विद्रूप रूप का यथार्थपरक अंकन किया है। आजादी के पहले जिस मोहसिन ने नायडू के साथ मिलकर देश के लिए बस्तर जैसे क्षेत्र में क्रांति का सूत्रपात किया, आजादी मिलने के बाद उसे ही ठेंगा दिखा दिया गया। उसे मुसलमान होने की सजा दी गई। उसे इतना मजबूर कर दिया गया कि जिस देश के लिए उसने स्कूल में बगावत की, यूनियन जैक को सल्यूट देने से इंकार करके लोगों में आजादी की चेतना भड़ी। जिसकी कीमत चुकाते हुए उसे स्कूल छोड़ना पड़ा। वह अब इतना टूट चुका था कि पाकिस्तान भागने की सोचने लगा। आजादी के बाद ऐसे-ऐसे हिन्दू लोग गाँधी टोपी पहनकर नेता हो गए थे जो आजादी की लड़ाई के दिनों में मुँह छिपाए फिरते थे और मोहसिन जैसे मुसलमान को हाशिये पर जाने को मजबूर कर दिया गया। आज भी भारतीय राजनीति में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व औसतन बहुत कम है।

राही जी के 'आधा गाँव' उपन्यास में भी आजादी के पहले हुए क्रांति में मुमताज शहीद हो जाता है। लेकिन जब इन शहीदों को सम्मान करने के लिए बालमुकुन्द गाँव में आता है तो सिर्फ हिन्दू लड़कों का नाम लेता है। मुमताज का नाम सिर्फ इसलिए नहीं लेता है क्योंकि वह मुस्लिम था - "ए साहब! हिआँ एक ठो हमरहू बेटा मारा गया रहा। अइसा जना रहा कि कोई आपको ओका नाम ना बताइस। ओका नाम मुन्ताज़ रहा!"[12] इस प्रकार मुस्लिम समाज भारतीय राजनीति में अपना प्रतिनिधित्व औसतन कम होने के कारण विभिन्न बाधाओं एवं मुश्किलों का सामना कर रहे हैं।

संदर्भ सूची:

1. डॉ. गंभीर, साठोत्तरी हिंदी काव्य में राजनीति चेतना, पृष्ठ-18
2. बिपिन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृष्ठ-322
3. रामशरण शर्मा, साम्प्रदायिक इतिहास और राम की अयोध्या, पृष्ठ-5
4. रघुनाथ देसाई, हिंदी के आंचलिक उपन्यासों में समाज जीवन, पृष्ठ-53
5. कमलेश्वर, नई कहानी की भूमिका, पृष्ठ-14
6. यतीन्द्र सिंह, मुस्लिम कथाकार और मुस्लिम समाज, पृष्ठ-132
7. सुनील यादव, भारतीय मुसलमान मिथक, इतिहास और यथार्थ, पृष्ठ-131
8. वही, पृष्ठ-42
9. अली अनवर, मसावात की जंग, पृष्ठ-197
10. वही, पृष्ठ-193
11. वही, पृष्ठ-193
12. राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृष्ठ-287

2.3 सामाजिक परिदृश्य

भारतीय समाज की सभ्यता काफी पुरानी है। समाज का निर्माण वहाँ के रहने वाले लोगों से होता है। चूँकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है अतः समाज के बिना मनुष्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। समाज में नाना प्रकार के लोग रहते हैं। अच्छे-बुरे सभी प्रकार के लोग समाज में मिल जायेंगे। समाज में कई मूल्य निर्धारित होते हैं जिसके आधार पर व्यक्ति के कर्म को अच्छा या बुरा कहा जाता है। सामाजिक व्यवस्था मनुष्य के जीवन को प्रभावित करती है। जिस समाज की व्यवस्था लोक कल्याणकारी हो, जिसमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं हो उस समाज में लोगों को सम्मानपूर्वक जीवन जीने का अधिकार प्राप्त होता है। भारतीय समाज की अपनी अलग विशेषता है जिसमें गुण और खामियाँ दोनों समाहित है। भारत ऋषियों का देश माना जाता है। यहाँ बेहतर समाज की परंपरा रही है, जिसमें लोग आपसी भाईचारे के साथ रहने में विश्वास करते थे। भारत की वर्तमान सामाजिक परिस्थिति को समझने के लिए हमें थोड़ा सा अतीत में जाना पड़ेगा, क्योंकि भारतीय समाज कई परम्पराओं, रीति-रिवाजों और कुरीतियों से भरा हुआ है जिसका उद्गम प्राचीन काल में माना जाता है। ध्यातव्य है कि परम्परा का संबंध इतिहास और संस्कृति से होता है क्योंकि परंपरा एक दिन की उपज नहीं होती है, उसके बनने और चलन में आने में लम्बे समय की ज़रूरत पड़ती है। वर्तमान समाज की जो भी समस्याएं हैं- जैसे हमारी नैतिकता का पतन, कपट जीवन पद्धति, वर्ण व्यवस्था पर आधारित अस्पृश्यता की घोर समस्या, बाल-विवाह, दहेज़ कुप्रथा, नारी की दयनीय स्थिति, बहु-विवाह, स्त्री-पुरुष का यौन संबंध आदि का संबंध केवल वर्तमान समय से नहीं है, वरन इसका संबंध इतिहास से भी है। गौरतलब है कि भारतीय समाज में जातिगत समस्या वैदिक काल से ही व्याप्त है। वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का चलन था जिसमें कर्म के आधार पर वर्णों का विभाजन हुआ था जिसका विकृत रूप भारतीय समाज में जाति एवं उप-जाति के रूप में देखने को मिलता है। ब्राह्मण वर्ग का समाज में उच्च स्थान बना रहा। इसी ऊँच-नीच की भावना ने धीरे-धीरे प्रचंड रूप धारण कर लिया। इन कुरीतियों

से युवा वर्ग असंतोष होकर समाज में परिवर्तन लाने की मुहीम चलायी जिसके कारण कई आन्दोलन चला। जिसमें प्रमुख रूप से अम्बेडकर, गांधी, फुले, राजा राममोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानंद एवं पेरियार जैसे व्यक्ति संलग्न थे। इन समाज सुधारकों ने समाज में क्रांति का सूत्रपात किया था जिसके फलस्वरूप बाल-विवाह एवं सती प्रथा का अंत हुआ साथ ही विधवा विवाह का समर्थन किया।

वेदों में वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत चार वर्णों का जिक्र मिलता है - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र आदि। मनुस्मृति में चातुर्वर्ण की बात उल्लेखित है। महाभारत कालीन समाज में भी वर्णव्यवस्था का ही चलन था। परन्तु विडंबना यह है कि आज तक भी यह व्यवस्था किसी न किसी रूप में विद्यमान है। जातिगत समस्या भारतीय समाज की प्रमुख समस्या रही है। यही कारण है कि उपन्यास के आरंभिक दौर से ही जातिगत समस्या उपन्यास के केंद्र में रही है।

संयुक्त परिवार में रहना भारतीय समाज की सुदृढ़ परम्परा रही है। परन्तु आधुनिक काल में एकल परिवार का चलन हो चला है। सकल परिवार में रहना हमारे देश की सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषता थी जो एक लम्बे समय से चली आ रही थी। स्वातंत्र्योत्तर भारत में उसके रूप में परिवर्तन होता चला गया। विश्वप्रकाश गुप्त के शब्दों में "भारत का सदियों पुराना ढांचा धीरे-धीरे लड़खड़ा रहा है। संयुक्त-परिवार प्रथा टूट रही है। कुछ साल पहले तक एक ही घर-आँगन में एक छत के नीचे कई पीढ़ियाँ एक साथ रहती थीं, अब वह बात नहीं है। विवाहित पुत्र अपने माता-पिता के साथ अथवा अपने भाई-बहनों के साथ नहीं रहना चाहता।"[1] एकल परिवार के प्रचलन के बढ़ने से व्यक्ति अकेला पड़ता जा रहा है। भौतिकता की अंधी दौर में व्यक्ति संबंधों की गरिमा को धूमिल करता जा रहा है। ऐसे परिवारों में वृद्ध माता-पिता, दादा-दादी की स्थिति दयनीय होती जा रही है। परिणामस्वरूप उनके अन्दर कुंठा, संत्रास और डर की भावना व्याप्त हो चुकी है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में समाजवाद की स्थापना पर जोर दिया गया जिससे एक आदर्श समाज की स्थापना हो सके। इसी कल्पना के साथ कांग्रेसी नेताओं ने नए भारत की नींव रखी। नेहरू जी समाजवाद की स्थापना करना चाहते थे। उन्हीं के शब्दों में- "कांग्रेस का उद्देश्य हिंदुस्तान में एक आज़ाद और लोकतान्त्रिक राज्य की स्थापना करना है। लोकतान्त्रिक राज्य में एक समतावादी समाज होता है। इस तरह के समाज में हर व्यक्ति को अपनी अभिव्यक्ति अपना विकास करने के समान अवसर उपलब्ध कराये जाते हैं और हर सदस्य को सभी जीवन का न्यूनतम स्तर सुनिश्चित कराया जाता है जिससे वह यह समान अवसर असलियत में हासिल कर सके।"[2] समाजवाद के जिस सपने को साकार करने की कोशिश कांग्रेसी नेताओं ने की थी वह सफल नहीं हो सका जिसके कई कारण बताये जाते हैं। समाजवाद की स्थापना और उसके प्रभाव के विषय में प्रो. गोविन्दराम वर्मा जी का मत है -"समाजवाद की असफलता ने भी राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या को पैदा किया है। यदि समाजवाद सफल हो जाता, तो आर्थिक विकास का फल सब को चखने को मिल जाता। अब बेरोजगारी, पिछड़ापन, गरीबी, आर्थिक असमानता आदि ऐसे ही विघटनकारी आर्थिक तत्व है, जो देश में भावनात्मक एकता पैदा नहीं होने देते"[3] वर्तमान समय में व्यक्ति सिर्फ भौतिक सुखों के पीछे अपनी सारी उर्जा खर्च कर रहा है जिसके फलस्वरूप उसे बाहरी और आन्तरिक दोनों स्तर पर द्वंद्वात्मक संघर्ष करने पड़ रहे हैं। लाजिमी है ऐसे में व्यक्ति सामाजिक मान्यताओं, परम्पराओं एवं रूढ़ियों का उलंघन करता है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में मुस्लिम समाज हाशिये का शिकार है। विभाजन के पश्चात् जो भी समृद्ध मुस्लिम परिवार थे उसमें से अधिकांशतः परिवार पाकिस्तान चले गए थे। शेष मुसलमान या तो गरीब थे अथवा संसाधनहीन थे। बहरहाल "भारतीय मुसलमान लगभग जीवन के हर क्षेत्र में देश के अन्य समुदायों से पीछे है। इस समुदाय में बड़े पैमाने पर फैली गरीबी और बेरोजगारी ही मुख्य रूप से इसके लिए जिम्मेदार है। मुस्लिम समुदाय की वे बिरादरियां जिनकी आर्थिक स्थिति ठीक है, वे शिक्षा के मामले में भी आगे हैं। आधुनिक सोच और शिक्षा से वंचित मुस्लिम समाज

का एक बड़ा तबका मुल्ला-मौलवियों के प्रभाव से ग्रस्त जीवन के हर क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है। उनकी साक्षरता दर राष्ट्रीय औसत से बहुत कम है।"[4]

अन्य समुदाय की तरह मुस्लिम समाज में भी पुरानी रूढ़ परम्पराएँ, अन्धविश्वास, बहु विवाह, अनैतिक स्त्री-पुरुष यौनसंबंध, जातिव्यवस्था, पितृसत्ता जैसी सामाजिक समस्याएं व्याप्त है। अतः मुस्लिम समाज की सामाजिक स्थिति को समझने के लिए उस समाज में व्याप्त तमाम विषंगतियों को समझना होगा।

बहु-विवाह: मुस्लिम समाज में बहु-विवाह की परम्परा है। मुस्लिम समाज इस्लाम का हवाला देकर एकाधिक निकाह करता है। प्राचीन काल में हिन्दुओं में भी बहु-विवाह का प्रचलन था। परन्तु वर्तमान समय में हिन्दू धर्म में एकाधिक विवाह कानूनन जुर्म है। एकाधिक विवाह का परिवार और समाज दोनों पर नकारात्मक असर पड़ता है। मुस्लिम महिलाएं इस बहु-विवाह की रूढ़ परंपरा से त्रस्त नज़र आती हैं। घरों में कलह का माहौल बना रहता है। मुस्लिम महिलाओं का जीवन इस भय के साथ गुजरता है कि उनके पति किसी और से विवाह कर लेंगे जिसके पश्चात उसके जीवन में तमाम तरह की समस्याएं उत्पन्न हो जाएँगी। शानी के 'काला जल' में मिर्जा करामत बेग की दो शादियाँ होती हैं। प्रथम शादी बिट्टी के साथ एवं दूसरी शादी बिलासपुर वाली के साथ। बिलासपुर वाली के आ जाने के बाद बिट्टी उसके साथ अमानवीय अत्याचार करने लगती हैं। उसके अन्दर सौतिया डाह की भावना जागृत हो जाती है। बिलासपुर वाली इन सभी अत्याचारों के कारण मिर्जा की मृत्यु के पश्चात मिर्जा का घर छोड़कर अपने घर चली जाती है। 'आधा गाँव' में भी एकाधिक स्त्री को रखने का चित्रण हुआ है "दूसरा ब्याह कर लेना या किसी ऐरी-गैरी औरत को घर में डाल लेना बुरा नहीं समझा जाता था, शायद ही मियाँ लोगों का कोई ऐसा खानदान हो, जिसमें कलमी लड़के और लड़कियाँ न हों। जिनके घर में खाने को भी नहीं होता, वे भी किसी-न-किसी तरह कलमी आमों और कलमी परिवार का शौक पूरा कर ही लेते हैं।"[5]

परिवार-नियोजन: मुस्लिम समाज में जो तबका शिक्षित एवं समृद्ध है उनके वहाँ परिवार-नियोजन दिखता है। 'आँखों की दहलीज' उपन्यास में तालिया का परिवार शिक्षित एवं समृद्ध है जिसके कारण उसके घर में एक ही बेटी है। परन्तु जिन घरों में शिक्षा की कमी है उन घरों में परिवार नियोजन का कॉन्सेप्ट नहीं दिखता है। 'आधा गाँव' उपन्यास में ऐसे परिवारों का चित्रण हुआ है जिनमें परिवार नियोजन नहीं दिखता है। अशिक्षित मुस्लिम परिवारों में जानकारी के अभाव में कई-कई बच्चे पैदा करते हैं। "इन्हें शिकायत यह थी कि सकीना के यहाँ ताबड़तोड़ सात लड़कियाँ हो चुकी थीं और फुस्सू मियाँ एक बेटे के अरमान में मरे जा रहे थे। जब बच्ची पैदा होती तो फुस्सू मन्नतें-वन्तें मानकर और गंडे-ताबीज में जकड़-जकड़ाकर फिर कोशिश में लग जाते। यहाँ तक कि सकीना को मतली होने लगती और वह कोरे बर्तन मे खाने लगती। ये दिन फुस्सू बड़ी बेचैनी में गुजारते। यहाँ तक कि फिर लड़की हो जाती और फुस्सू का मुँह लटक जाता और रब्बन-बी हाथ-उठाकर सकीना को कोसने लगती। लड़की-पे-लड़की पैदा त किये जा रही हो-बाक़ी ई घर में रोकड़ ना धरा है।"[6] सकीना को इसके लिए बहुत दुःख होता है। वह जानती है कि वह भी नहीं चाहती कि प्रत्येक बार उसे बेटी ही हो परन्तु नियति के सामने वह लाचार रहती है। वह भी चाहती है कि उसके यहाँ एक बेटा हो जिसके लिए दर-दर भटककर मन्नतें भी मांगती हैं। यह कितनी बेतुकी और हास्यस्पद है कि जब तक आपको बेटा का सुख प्राप्त नहीं हो जाता तब तक आप बच्चे पैदा करते रहेंगे। इसके लिए भले ही औरत को अनचाहे कितनी बार प्रसव पीड़ा से गुजरना पड़े। इतनी पीड़ा सहने के बाद भी यदि बेटा नहीं हुआ तो उसका भी दोष पत्नी के माथे मढ़ दिया जाए। खैरुन के यहाँ भी अठारह बच्चें पैदा हुए "खैरुन के यहाँ ताबड़तोड़ अठारह बच्चे पैदा हुए। सबसे छोटा बच्चा सवा साल का था और सबसे बड़ी बेटी छत्तीस बरस की जो खुद माशाल्लाह से आठ बच्चों की माँ थी। उसका बड़ा बेटा लगभग बाईस बरस का था"[7]

स्त्री-पुरुष यौनसंबंध: मुस्लिम समाज में स्त्री-पुरुष की यौनसंबंध भी एक बड़ी सामाजिक समस्या के रूप में दिखाया गया है जिससे पारिवारिक विघटन परिलक्षित होता है। स्वातंत्र्योत्तर मुस्लिम उपन्यासकारों के उपन्यासों में अमर्यादित स्त्री-पुरुष का यौनसंबंध का बड़े पैमाने पर चित्रण हुआ है। 'आधा गाँव' में इस तरह के अनैतिक संबंध भरा पड़ा है। शादी के पश्चात भी दूसरी रखैल रखना अथवा दूसरी औरतों से अनैतिक संबंध रखना मुस्लिम समाज में आम बात है "मैंने तो कभी तुम्हारे ससुर को इस बात पर नहीं टोका कि उन्होंने गाजीपुर में एक रंडी क्यों रख छोड़ी है। और न ही मैंने उनसे यह पूछा कि अमतुल से उनके क्या ताल्लुकात हैं।"[8] 'काला जल' उपन्यास में भी बब्बन के पिता उसकी माँ को धोखा देकर दूसरी औरत के साथ संबंध रखता है जिसके कारण उसके घरेलु वातावरण में उथल-पुथल मचा रहता है। बब्बन की माँ के विरोध करने पर आये दिन उनसे मार-पिट की जाती है। "अंत में यह हुआ कि अब्बा ने गन्दी गालियों के साथ अम्मी का झोंटा पकड़ कर खाट पर पटक दिया और बेहिसाब लात-घुसे जमा कर हाँफते हुए कमरे के बाहर निकल गये"[9] मेहरुन्निसा परवेज़ के उपन्यास 'आँखों की दहलीज' में तालिया और जमशेद विवाहेत्तर यौन संबंध स्थापित करता है जिसके परिणामस्वरूप तालिया पाप बोध से ग्रसित होकर आत्महत्या करने की कोशिश करती है। तालिया के घर में काम करने वाले नौकर की पत्नी का दूसरे के साथ अवैध संबंध रहता है। 'काला जल' में रशीदा के चाचा अपनी सगी भतीजी के साथ जबरन अवैध संबंध स्थापित करता है। रशीदा इस संबंध के कारण अपने प्राण की आहुति दे देती है। इब्राहीम शरीफ़ के उपन्यास 'अँधेरे के साथ' में कथानायक की बहन का किसी के साथ अवैध संबंध रहता है जब उसे इस बात का पता चलता है कि वह पेट से है तो वह भी लोकलाज के कारण घर छोड़कर कहीं चली जाती है। 'आधा गाँव' में राही जी ने जमींदारों के अवैध संबंधों को खुलकर चित्रित किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर मुस्लिम समाज में संबंधों की गरिमा निचली स्तर पर रही है उसमें किसी प्रकार का रागात्मक

संबंध नहीं है। रिश्तों की मर्यादा का अभाव है साथ ही उन रिश्तों की वजह से सामाजिक विघटन होता है।

अन्धविश्वास: मुस्लिम समाज में अन्धविश्वास की समस्या चिंताजनक है। शिक्षा के अभाव के कारण भी इस समाज में आज के दौर में भी अन्धविश्वास से ग्रसित है। पीर-फकीरों के चक्कर में पड़कर अधिकांशतः मुस्लिम परिवार बर्बाद हो चुके हैं। मुस्लिम समाज में काला जादू का प्रचलन भी देखने को मिलता है जो इस वैज्ञानिक समय में हास्यस्पद जान पड़ता है। गाँव की महिलाएं आज भी बच्चों के बीमार होने पर उसे झार-फूंक से ठीक करने में विश्वास करती हैं। इस वजह से कई बार अप्रिय घटना घट जाती है। मुस्लिम समाज में व्याप्त अन्धविश्वास को लेकर नामदेव जी कहते हैं कि "आधुनिक शिक्षा के अभाव के कारण अधिकांश मुस्लिम आबादी अंधविश्वासों में आस्था रखती है और अपनी समस्याओं का निदान सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक संरचना में न ढूंढ कर जादू-टोने, पीर-फकीरों में ढूंढती है। असल में ये समस्या केवल मुसलमानों की ही नहीं बल्कि भारत की अन्य जातियों और समुदायों की भी है"[10] मुस्लिम समाज में लोग यह विश्वास करते हैं कि यदि किसी पुरुष का किसी और स्त्री के साथ संबंध है तो उसे काला जादू के सहारे उसे उस स्त्री के मोह से छुटकारा दिलाया जा सकता है। 'छाको की वापसी' उपन्यास में ख्वाजा खिजर का चित्रण हुआ है जिसमें यह मान्यता है कि उनको फातिहा देकर फल्गु नदी में ख्वाजा खिजर के बेड़े को बहाने से मनोकामनाएं पूर्ण होती हैं। लेखक की माँ की इसमें बड़ी आस्था रहती है। उनका मानना है कि "खिजर साहब पानी में रह रहे हैं। किसी को डूबते हुए देख लें, तो उसको बचा लेते हैं।"[11] अन्धविश्वास का जनक गरीबी और मुसीबत है। जब व्यक्ति निर्धन अथवा किसी मुसीबत में रहता है तभी धर्म और अंधविशवास की तरफ खींचता चला जाता है। इस संदर्भ में 'काला जल' का एक प्रसंग देखा जा सकता है जिसमें बब्बन की माँ अपनी आर्थिक स्थिति ख़राब होने तथा घर की दिवालिया होने के कगार पर आने एवं पति का किसी दूसरी स्त्री के साथ संबंध होने के कारण वह अन्धविश्वासी बन जाती है। इन

सभी मुसीबतों से छुटकारा पाने हेतु वह जादू-टोना का सहारा लेती हुई रहमत चाचा के पास जाती है। रहमत चाचा पेशे से तांत्रिक हैं। लेखक के अनुसार “रहमत चाचा ने वह बर्तन खींचा जिसमें कुछ चढ़ावा लेकर अम्मी आई थीं। उसमें से कुछ निकलने-धरने के बाद ठीक से ढँककर सरका दिया और अगरबत्ती से गिर-गिरकर जमा हुई थोड़ी राख समेटकर पुड़िया बांधते हुए बोले, 'लो हो गया'... “अल्लाह ने चाहा तो सब ठीक हो जायेगा...इनमें से एक तुम खाओ और एक पुड़िया किसी तरह बब्बन के अब्बा को खिलाओ...दुआ मैंने कर दी है।”[12] मुस्लिम समाज में विद्यमान इस तरह के अन्धविश्वास के तह में जाने से यह मालूम होता है कि इस समस्या के मूल में आर्थिक कारण ही प्रमुख है क्योंकि जिन मुस्लिम परिवारों में शिक्षित एवं आर्थिक दृष्टिकोण से समृद्ध लोग है वहाँ अन्धविश्वास अपना पैर नहीं जमा पाया है। यदि सभी मुस्लिम परिवार रोजगार की समस्या से निजात पा जाये, गरीबी दूर हो जाये एवं शिक्षित हो जाए तो अन्धविश्वास की समस्या से छुटकारा पाया जा सकता है।

जाति व्यवस्था: भारतीय मुस्लिम समाज में हिन्दुओं की तरह जातिव्यवस्था विद्यमान है। यह बात अलग है कि हिन्दू धर्म की तरह इसमें किसी प्रकार की वर्ण व्यवस्था नहीं है। फिर भी मुस्लिम समुदाय के स्तरीकरण में जातिप्रथा के कई सारे तत्व मौजूद हैं। इस समुदाय की जातिव्यवस्था को तीन भागों में बांटा गया है। अशराफ, अजलाफ़ और अरजाल ये तीनों वर्ग मुस्लिम होते हुए भी आपस में किसी तरह का बेटी-रोटी का संबंध स्थापित नहीं करते हैं। 'आधा गाँव' के जमींदार वर्ग अशराफ हैं और राकी, जुलाहे आदि अजलाफ़ हैं। ये दोनों वर्ग आपस में किसी प्रकार के शादी-विवाह का संबंध स्थापित नहीं करते हैं तथा उन्हें हेय दृष्टि से देखते हैं। कम्मो छोटी जाति के होने के कारण उसकी शादी ऊँची जाति की सईदा से नहीं हो सकती है। भले ही अशराफ की बेटियां कुँवारी रह जाए लेकिन किसी अजलाफ़ के लड़के से उसकी शादी नहीं हो सकती है। भले ही कोई अशराफ का लड़का किसी अजलाफ़ की लड़की को अपने हरम में डाल ले लेकिन कोई अजलाफ़ ऐसा नहीं कर सकता है। झंगटीया चमाईन, दुलरिया भंगिन,

मेहरुनिया नाईन, नईमा बी और कुलसुम जुलाहीन ये सभी 'आधा गाँव' की ऐसी स्त्री पात्र है जो मुस्लिम समाज में व्याप्त जाति व्यवस्था की दोहरी मार को झेलती हुई दिखाई गई है। उपन्यास में सुलेमान चा झंगटीया चमाईन को अपने घर में डाल लेता है, उसके साथ शारीरिक संबंध भी स्थापित करता है, बच्चे भी पैदा करता है, परन्तु धार्मिक और जातिगत छुआ-छुत को मानकर उसके हाथ का बना खाना नहीं खाता है। "सुलेमान चा मज़हबी आदमी थे, इसलिए वह झंगटिया-बो की छुई हुई कोई गीली चीज इस्तेमाल नहीं कर सकते थे। इसलिए घर में एक औरत के आ जाने के बाद भी सुलेमान चा को अपना खाना खुद पकाना पड़ता था।"[13] 'छाको की वापसी' उपन्यास में खाजे बाबु अपने बचपन की स्मृतियों को बताते हुए जातिगत ऊँच-नीच के भेद-भाव के कारण छाको के साथ खेलने पर उसे उसके अब्बा से पिटाई खानी पड़ती थी। उसके पिता कहते थे -"बेहूदा बदतमीज़! शरीफों का ढंग ही नहीं है, इसका। कमीने लड़कों के साथ खेलकर खुद कमीना हो गया है।"[14] मुस्लिम समाज जातिगत स्तरीकरण के कारण अशराफ वर्ग के मियाँ अजलाफ़ वर्ग के मियाँ के लिए 'कमीना' शब्द आसानी से व्यवहार करते हैं, जिससे मुस्लिम समाज के जातिगत भेद-भाव का पता चलता है। 'आधा गाँव' में इमाम बाड़े में जहाँ मजलिस हुआ करती है वहाँ मिम्बर के पास दरे पर अशराफ लोग बैठा करते हैं लेकिन अजलाफ वर्ग के लोग पीछे बैठते हैं जहाँ फर्श इत्यादि नहीं हुआ करता है। "तीन-दरे के जिस हिस्से में फर्श नहीं था, उसमें जुलाहे बैठे हुए थे। चमारों और भरों के लड़के प्रसाद के लालच में तीन-दरे के बहार ज़मीन पर उकडूं बैठे आपस में लड़ रहे थे।"[15] इस तरह के अनेकों उदाहरण उपन्यासों भरे पड़े हैं।

पितृसत्तात्मक व्यवस्था: पितृसत्तात्मक व्यवस्था का अर्थ होता है ऐसी व्यवस्था जहाँ के सर्वेसर्वा पुरुष हो अर्थात ऐसी सामाजिक व्यवस्था जो पुरुष प्रधान हो, जिसके केंद्र में पुरुष हो, जिसमें औरतों को चार दीवार के अन्दर तक ही सीमित रखा जाता है। ऐसी व्यवस्था औरतों को एक प्रकार से दास जैसे जीवन जीने को बाध्य करती है, जिसकी अपनी कोई पहचान नहीं होती

है। उसे उसके पति अथवा पिता के माध्यम से जाना जाता है। सामंती समाज में ऐसी ही व्यवस्था थी और आज भी वही कायम है। वर्तमान समय में बदलाव हुए हैं और स्त्रियाँ अब अपनी पहचान के साथ जीवन यापन कर रही हैं। लेकिन उसकी संख्या बहुत कम है। बहरहाल स्वातंत्र्योत्तर मुस्लिम उपन्यासकारों यथा राही जी, शानी जी, बदीउज़्ज़माँ जी के उपन्यासों को अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि मुस्लिम समाज भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था के अधीन है क्योंकि इस समाज की औरतों को भी समाज में दूसरा दर्जा ही प्राप्त है यानी घर की मुखिया यहाँ भी पुरुष ही है, औरत केवल उनके सेवा के लिए, उनके बच्चे पैदा करने के लिए, उनके लिए खाना बनाने के लिए और उसे यौन सुख देने के लिए है। परिवार का समस्त निर्णय पुरुष ही लेते हैं औरतों की उसमें हिस्सेदारी नगण्य होती है। वैसे तो इस्लाम में औरतों का स्थान काफी ऊँचा माना गया है परन्तु वह केवल सैद्धांतिक रूप में ही, व्यावहारिक रूप में ऐसा कुछ नहीं दिखता है। वास्तविकता कुछ अलग ही है। स्त्री केवल पुरुषों द्वारा कही गई बातों को मानने वाली होती है, उसका विरोध करने वाली नहीं। स्त्री को किसी महत्वपूर्ण काम में सहयोगी नहीं बनया जाता है। उसकी राय की ज़रूरत पुरुष नहीं समझता है। ‘आधा गाँव’ में राही इस प्रश्न को कुबरा और हम्माद मियाँ के संवाद द्वारा उठाते हैं, जहाँ हम्माद मिग्दाद की शादी के विषय में कुबरा को फैसला सुना देते हैं। कुबरा के लाख विरोध करने पर भी कि यह शादी नहीं होनी चाहिए लेकिन उसकी एक न सुनी जाती है। “मैं तुमसे राय नहीं मांग रहा हूँ। कल अपने भाई साहब को ख़त लिखवा दो। कुबरा बहस करना चाहती थी। मगर हम्माद मियाँ ने करवट बदल ली। कुबरा दिल मसोसकर रह गई।”[16] राही कुबरा के माध्यम से पूरी नारी जाति की इस विवशता को अंकन करने की कोशिश की है। नारी पर हमेशा से अपने विचार और अपने फैसले को थोपा ही जाता रहा है। वर्तमान समय में भी स्त्री पुरुषों के अधीन ही जीवन यापन करने को बाध्य है। खासकर वैसी महिला जो आत्मनिर्भर नहीं है। मुस्लिम महिला की स्थिति इस मायने में और दयनीय है। आज भी उनका शोषण होता है। उन्हें दोहरे व्यवहार का सामना करना पड़ता है। ‘काला जल’ की पात्र

जैबुन धार्मिक उत्सव देखने के लिए भी अपने परिजन की आज्ञा के बिना नहीं आ सकती है। इस संदर्भ में सल्लो जब उससे यह पूछती है कि क्या वह मुहर्रम देखने के लिए माँ को बिना बताये नहीं आ सकती है तो जैबुन जवाब देती है कि- ‘‘नहीं तो, हम लोगों के यहाँ लड़कियाँ बिन बताये निकलेंगी? और वह भी रात में? हाय अल्लाह, काट कर न फेंक दें...’’[17] मुस्लिम समाज में पितृसत्तात्मक सोच इतनी गहरी पैठ बना चुकी है कि स्त्री को स्वतंत्र होते नहीं देख सकती है। जो भी इस रेखा को पार करती है उसे उसकी सजा मिलती है। ‘काला जल’ की अविवाहित सल्लो गर्भवती हो जाती है, जिसके कारण उसके परिवार वाले उसे ज़हर देकर मार डालते हैं। इस तरह की सामंती सोच आज भी समाज में व्याप्त है जिसके कारण लड़कियाँ आये दिन शिकार होती है। सल्लो की तरह रशीदा भी पितृसत्ता का शिकार होती है। पिता समान चाचा के हाथों उसका बलात्कार होता रहता है लेकिन वह किसी से कुछ नहीं कह पाती है। अंततः स्वयं को ही नष्ट कर लेती है जबकि गुनेहगार उसके चाचा थे। पितृसत्तात्मक समाज में सजा केवल नारी को मिलती है। इस तरह के उदाहरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि मुस्लिम समाज में पुरुषों का वर्चस्व कायम है। कुल मिलाकर मुस्लिम समाज और हिन्दू समाज दोनों में पितृसत्तात्मक व्यवस्था कायम है। जिस प्रकार हिन्दू धर्म में रूढ़ परंपरा, जातिवाद, ऊंच-नीच का भेद व्याप्त है उसी तरह मुस्लिम समाज में भी। इस प्रकार दोनों समुदाय की सामाजिक स्थिति लगभग एक सी है।

संदर्भ सूची:

1. (सं) विश्वप्रकाश गुप्ता, मोहिनी गुप्ता, आजादी के पचास साल भाग-1, पृष्ठ-07
2. (सं) अर्जुन देव, जवाहर लाल नेहरू संघर्ष के दिन (चुने हुए वक्तव्य), पृष्ठ-159
3. शैलेन्द्र सेंगर, भारतीय शासन एवं राजनीति, पृष्ठ-162
4. सुनील यादव, भारतीय मुसलमान मिथक, इतिहास और यथार्थ, पृष्ठ-11
5. राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृष्ठ-17
6. वही, पृष्ठ- 109
7. वही, पृष्ठ-102
8. वही, पृष्ठ-119
9. शानी, काला जल, पृष्ठ-150
10. नामदेव, भारतीय मुसलमान, पृष्ठ-84
11. बदीउज़्ज़माँ, छाको की वापसी, पृष्ठ-39
12. शानी, काला जल, पृष्ठ-212
13. वही, पृष्ठ-41
14. बदीउज़्ज़माँ, छाको की वापसी, पृष्ठ-94
15. राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृष्ठ-42
16. वही, पृष्ठ-185
17. शानी, काला जल, पृष्ठ-222

2.4 धार्मिक परिदृश्य

भारत में इस्लाम धर्म की परिस्थिति को समझने से पहले यह जान लेना आवश्यक हो जाता है कि इस्लाम धर्म की उत्पत्ति कहाँ और किस हालत में हुई थी। इस धर्म का आगमन एक ऐसे समय में हुआ था जब अरब देश घोर पाखंड और पतन की तरफ़ अग्रसर था। इस समय अरब के निवासी छोटे-छोटे घुमंतू कबीलों में बंटे हुए थे जो लगातार एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते रहते थे। इस समय लूट-मार आम बात थी। किसी तरह की सामाजिक व्यवस्था न होने के कारण इस समय के लोग अव्यवस्थित ढंग से जीवन यापन कर रहे थें। 'इस्लाम' अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ 'शांति में प्रवेश' करना होता है। हजरत मोहम्मद साहब इस धर्म के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनका जन्म अरब देश के मक्का शहर में सन् 570 ई. में हुआ था। लगभग 609 ई. से वे इस्लाम धर्म का प्रचार करना आरंभ किए थे। इस समय भारत में हर्षवर्धन का राज्य था। ऐसा माना जाता है कि समय-समय पर अल्लाह के दूत हजरत साहब के पास कुरान की आयतें देवदूतों के जरिये भेजा करते थे जिसे हजरत साहब 23 वर्षों तक तालपत्रों, चमड़े के टुकड़ों आदि पर लिखते गए एवं जब उनकी मृत्यु हुई तो पहले खलीफा अबूबक्र इन पदों का संकलन कर कुरान जैसी प्रमाणिक पोथी की रचना की। अतः इस प्रकार हजरत साहब इस्लाम धर्म के पैगम्बर माने गए। इस्लाम धर्म का मूलमंत्र है- 'ला इलाह इल्लल्लाह मुहम्मदुर्रसूलल्लाह' जिसका अर्थ होता है 'अल्लाह के सिवा और कोई पूजनीय नहीं है तथा मुहम्मद उसके रसूल हैं।' इस्लाम धर्म में पाँच धार्मिक कृत्य निर्धारित किए गए हैं यथा कलमा पढ़ना, नमाज़ पढ़ना, रोज़ा रखना, ज़कात एवं हज करना।

इस्लाम धर्म के अनुयायी सुन्नी-शिया दो सम्प्रदायों में बंटे हुए हैं। दरअसल यह विभाजन हजरत मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद गद्दी को लेकर हुए उहा-पोह के कारण हुआ था। हजरत साहब का कोई पुत्र संतान नहीं था एक मात्र पुत्री थी जिसका नाम फातिमा था। फातिमा की शादी हजरत अली से हुई थी। पैगम्बर साहब के इन्तेकाल के बाद अबूबक्र को गद्दी मिल गई उसके

बाद हजरत उमर को उसके बाद हजरत उस्मान को फिर हजरत अली को। जब छठे खलीफा के रूप में हजरत मुहम्मद साहब के नाती इमाम हुसैन का चयन हुआ तो तत्कालीन खलीफा उनकी हत्या करवा दी जिसके बाद से ही मुसलमान दो भागों में बंट गए, जिनमें हजरत अली के पक्षधर शिया कहलायें तथा बाकि के मुसलमान सुन्नी कहलाए।

भारत में इस्लाम के पहुँचने से पहले से ही भारत और अरब के बीच व्यापारिक संबंध था। तत्कालीन मालाबार के राजा चेरमान-पेरुमल ने मुसलमानों को भारत में न सिर्फ संरक्षण दिया बल्कि स्वयं इस्लाम धर्म अपनाकर उसका प्रचार-प्रसार भी किया। - "इस्लाम के जन्म से बहुत पहले से ही अरब के निवासियों का भारत की जनता के साथ संपर्क था। इनमें से कुछ अरब, भारत के पश्चिमी तट पर बस गए थे। ये लोग आक्रमणकारी के रूप में नहीं बल्कि तिजारत करने वाले लोगों के रूप में आए थे"[1] खास तौर से आठवीं शताब्दी के आरंभ से मोहम्मद बिन कासिम ने भारत पर आक्रमण किया और सिंध तथा पंजाब को जीत लिया था। इसके बाद मुहम्मद गजनवी ने भारत पर सात बार आक्रमण किया और भारत से भारी मात्रा में धन संपत्ति को अपने साथ ले गया। इसके बाद मोहम्मद गोरी ने भारत पर आक्रमण किया तथा दिल्ली पर कब्ज़ा कर लिया। इसके बाद 1526 तक क्रमशः गुलाम वंश, खिलजी वंश, तुगलक वंश एवं सैयद वंश तथा लोदी वंश का दिल्ली की सत्ता पर अधिकार था। इसके बाद मुगलों का आगमन हुआ जिसका अंत औरंगजेब की मृत्यु के बाद लगभग हो गया।

आजादी के पूर्व भारत में "1941 की मर्दुशुमारी के अनुसार कुल आबादी में मुसलमानों का प्रतिशत 23.81 था। देश-विभाजन के बाद 1951 में हुई मर्दुशुमारी में मुसलमानों का प्रतिशत गिरकर 9.91 प्रतिशत हो गया क्योंकि ज्यादा मुसलमान वाले इलाके पाकिस्तान में चले गए।"[2] सन् 2001 के जनगणना के अनुसार भारत में कुल आबादी के 13.4 प्रतिशत मुसलमान हैं तथा यह भारत का सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समूह है। यह संख्या में अन्य अल्पसंख्यक समुदायों के मुकाबले बहुत अधिक हैं।

आजादी के कुछ पहले से भारत में हिन्दू-मुस्लिम दोनों धर्मों के बीच का टकराहट बढ़ गया था जिसका विकराल स्वरूप विभाजन और उसके बाद हुए विध्वंस के रूप में देखा जा सकता है। इसके बाद ही इस्लाम धर्म के प्रति भारतीय समाज में घृणा की भावना अधिक बढ़ी, इसमें कोई दो राय नहीं है। यह भी सच है कि हिन्दुओं ने इस भावना को कम करने की भी लगातार कोशिश की लेकिन भारतीय समाज में आज भी दोनों धर्मों के बीच टकराहट बनी हुई है। इस टकराहट को हवा देने और मजबूत करने में मुख्य भूमिका राजनीति की है।

आजादी के बाद के उपन्यासों में खासतौर पर उन उपन्यासों में जो धर्म और विभाजन पर आधारित है उनमें इस्लाम और हिन्दू धर्म के बीच की रस्साकश्शी व्याप्त है। यशपाल का उपन्यास 'झूठा सच' में विभाजन के पहले और उसके बाद के समय को दिखाया गया है। इस उपन्यास में इस्लाम धर्म और हिन्दू धर्म के बीच की खाई को असद और जयदेव पुरी के माध्यम से दिखाया गया है। इस उपन्यास में पूरी की बहन तारा असद से प्रेम करती है। तारा का परिवार हिन्दू होने के कारण उसके भाई को यह प्रेम-संबंध पसंद नहीं आता है। पूरी हिंदूवादी मानसिकता से ग्रसित है। वह तारा से कहता है कि 'जोर भी लगाया तो मुस्लिम से' उक्त कथन से समझा जा सकता है कि लेखक ने दो धर्मों के मध्य की खाई को दिखाने की कोशिश की है। इसी तरह के उपन्यास 'तमस' में भी इस्लाम धर्म और हिन्दू धर्म के मध्य आपसी सौहार्द और अलगाव दोनों को दिखाया है।

साठ के बाद के मुस्लिम उपन्यासकारों के उपन्यासों में इस्लाम धर्म के मानने वाले समाज का सजीव चित्रण किया है। इन रचनाकारों ने अपने उपन्यासों में इस्लाम धर्म की संस्कृति का सुन्दर चित्रण किया है। राही मासूम रज़ा की दृष्टि में धर्म से खुबसूरत कोई दूसरी चीज नहीं है। लेकिन वे खोखली और झूठी धार्मिकता पर प्रहार करते हैं एवं अपने उपन्यास में उसका पर्दा फाश करते हैं। 'आधा गाँव' में राही जी धार्मिक ढकोसला को दिखाकर मुस्लिम समाज में व्याप्त धर्म के विद्रूप स्वरूप को दिखाया है। इस उपन्यास के पात्र एक तरफ हड्डी की शुद्धता, ऊँच-

नीच का भेद करते हैं वहीं दूसरी ओर कलमी औलाद पैदा करते हैं। शिया होने का घमंड और सुन्नियों पर अत्याचार करते हुए भी देखे जाते हैं। इस उपन्यास के शिया किसी सुन्नी घराने में शादी-ब्याह नहीं करते हैं जिससे दोनों समुदायों के मध्य कटू संबंध नज़र आता है। शिया समुदाय सुन्नियों को हीन दृष्टि से देखता है- "एक तो इश्क़-विश्क़ करना शरीफ़ों का काम नहीं है। फिर वह लड़की सुन्नी है। क्या सुन्नी बहू ब्याह लाऊँ? मुहर्रम में चूड़ियाँ बजाती फिरेगी तो कैसा लगेगा?"[3] राही ने उपन्यास में दिखाया है कि धर्म को सर्वोपरि मानते हुए इमाम हुसैन साहब के क़त्ल को बेबुनियाद मानते हैं। शोक मनाते हुए हर साल ताजिया निकाले जाते हैं। वहीं दूसरी और उसी ताजिया के नाम पर बेकसूर कोमिला चमार को झूठे मुक़दमा में फंसाकर फाँसी की सजा दिलवा देते हैं। राही धर्म की उक्त कट्टरता और बाह्य आडम्बरों तथा उससे उत्पन्न सामाजिक कुरीतियों का विरोध करते हैं। धर्म के नाम पर बने पाकिस्तान का हमेशा राही जी विरोध करते रहे हैं। उनका मानना था कि धर्म मनुष्यों को जोड़ने का काम करता है उसे अलगाने का काम धार्मिक आडम्बर से लैस मुल्ला मौलवी एवं राजनीति करने वाले करते हैं। "इसी नमाज के लिए तो पाकिस्तान की ज़रुरत है।"[4] राही के पात्र धर्म के नाम पर अलग हो रहे पाकिस्तान के पक्ष में खड़े दिखाई नहीं देते हैं - "हम माटीमिली मुसलिम लीग को कभई जो दें अपना ओट!"[5]

धर्म का अन्य विद्रूप चेहरा शानी के 'काला जल' में देखने को मिलता है। मिर्ज़ा करामत बेग की मृत्यु के बाद इस्लाम धर्म में व्याप्त रीति-रिवाजों के नाम पर अधिक व्यय किया जाता है जिसके कारण उसके परिवार की आर्थिक स्थिति ही ख़राब हो जाती है। "आँगन में चहल्लुम के पुलाव के लिए मन डेढ़ मन उम्दा चावल धुल रहे हैं और एक ओर तीन जिबह किये बकरे छीले जा रहे हैं।"[6] शानी का धर्म में बहुत अधिक आस्था नहीं था। वे साल में एक या दो बार मस्जिद जाते थे, उसमें से भी वे कई बार ईद के मौके पर अपने दोस्तों के साथ ही समय बिताते थे। उन्हें धार्मिक कट्टरता कतई पसंद नहीं था। इसीलिए वे लगातार पंडों और धूर्त मौलवियों को आरे हाथ लिया करते थे। ऐसे धूर्त मौलवियों के माध्यम से उन्होंने धर्म के इस नकारात्मक छवि को दिखाया

है- “मियाँ मुसलमान की औलाद होकर ये क्या हरामखोरी कर रहे हो? खुदा के वास्ते अपने दीन मज़हब का तो ख्याल करो। किसी भले घर की लड़की से शादी रचाओ और इस गुनाह से निजात पाओ। कहो, लड़की का बंदोबस्त हम कर दें। एक से एक आला खानदान की नेक हसीनो-ज़मील और खुदा से खौफ खाने वाली लड़कियाँ जो पंजगाना नमाज़ी हैं और जिनकी ज़बान पर कुरान शरीफ की आयतें धरी हुई हैं।”[7]

वर्तमान समय में जिस तरह से धर्म को अलग स्वरूप प्रदान किया जा रहा है और धर्म के ठेकेदार जिस प्रकार से इसका दुरूपयोग कर रहे है ऐसे समय में मेहरुन्निसा परवेज अपने उपन्यास ‘आँखों की दहलीज़’ में उसका यथार्थ चित्रण करती हुई नज़र आती हैं। इस उपन्यास में एक मौलाना साहब इस्लाम धर्म का हवाला देकर तालिया के घर उर्स मनाने के लिए चंदा मांगने जाते हैं और यह कहते हैं कि वे इसके जरिये खुदा को प्राप्त करते हैं। तालिया और जावेद दोनों इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि अल्लाह को पाने का यह तरीका गलत है। सच्चे अर्थों में यह बाह्य आडम्बर है। इससे लाखों रुपये खर्च होते हैं। यदि इसका सही इस्तेमाल किया जाए तो गरीबों और यतीमों की भलाई की जा सकती है। जावेद कहता है कि - “हर साल उर्स में लाखों रुपया खर्च होता है जो बेकार जाता है। उसी रुपये से हम मदरसा, यतीमखाना नहीं खोल सकते? मुसलमानों का ईमान इतना कच्चा हो गया है कि जिनके घर में खाने को नहीं, लड़की की शादी के लिए पैसा नहीं, पर वह उर्स में जरूर जाएगा। यही हाल हिन्दुओं का है इसी से तो हम दिन-पर-दिन गरीब होते जा रहे हैं। धर्म और इस्लाम के नाम पर हमसे पैसा लिया जाता है, पर वह पैसा कहाँ है? आप तीर्थस्थानों पर या मजारों पर जाइए, वहाँ सैकड़ों भिखारी मिलेंगे। धर्म के नाम पर जो पैसा मिलता है क्या उससे उन भिखारियों की रोजी-रोटी का जरिया नहीं बना सकते?”[8]

हम एक ऐसे समय में जी रहे हैं जब धर्म के नाम पर वोट की राजनीति हो रही है। सत्ता हथियाने के साधन के रूप में धर्म का उपयोग किया जा रहा है। धर्म के नाम पर भीड़तंत्र को इकट्ठा किया जा रहा है। सरेआम मानवता की क़त्ल की जा रही है। ऐसे में इब्राहीम शरीफ अपने

उपन्यास 'अँधेरे के साथ' में धर्म के ऐसे ठेकेदारों पर जोरदार प्रहार करते नज़र आते हैं। इस उपन्यास का चेयरमेन सत्ता में बने रहने के लिए आम मुसलमानों को धर्म के नाम पर गुमराह करता है और हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को हथियार बनाकर मुस्लिम वोट बैंक को तैयार करने की कोशिश करता है। वह लोगों को इस्लाम का हवाला देते हुए धर्म के लिए खड़ा होने एवं उसे बचाने के लिए अनैतिक कार्यों को करने तक की हिदायत देते हैं। कथानायक भले ही मुस्लिम है, वह वेरोजगार है, वक्त का सताया हुआ है लेकिन धर्म के नाम पर हो रहे गोरखधंदा के खिलाफ खड़ा होकर उसका विरोध करता है। चेयरमेन उसे इलेक्शन के वक्त वोटर लिस्ट से हिन्दुओं का नाम काट कर कुछ मुस्लिमों के नामों को जोड़ने का काम देता है जिसे कथानायक करने से इंकार करके सच्चे मुसलमान होने का फर्ज अदा करता है। कथानायक धर्म के ठेकेदारों को उसकी औकाद दिखाते हुए आम मुस्लिमों में जागरूकता फ़ैलाने का काम करता है साथ ही चेयरमेन को बेनकाब करता है। "क्या तुम नवाब हो और कैसा काम करोगे? अफसरी करोगे?' उसकी लाल आँखों को पल-भर भी मानीं देख नहीं सका था। जैसे फुसफुसाते हुए बोला था - 'अफसरी नहीं साब...फिर भी झूठी लिस्ट कैसे तैयार करूं?'"[9] इब्राहीम जी इस प्रसंग के माध्यम से धर्म को सही अर्थ में प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। वे धर्म को हथियार बनाकर सत्ता हथियाने वाले नेताओं का यथार्थ चित्रण कर उसका विरोध करते हुए नज़र आते हैं।

'छाको की वापसी' उपन्यास में बदीउज़्ज़माँ जी धर्म परिवर्तन की समस्या को दिखाते हैं। यह ऐतिहसिक सत्य है कि भारत में रहने वाले अधिकांशतः मुसलमानों के पूर्वज हिन्दू थे जो धर्म परिवर्तन करके मुस्लिम बने थे। धीरे-धीरे ये परिवर्तित मुसलमान हिन्दुओं की संस्कृति एवं संबंधो से दूर होते चले गए। इन परिवर्तित मुसलमानों के बारे में लेखक लिखते हैं कि "इसमें कोई शक की गुंजाइश नहीं कि बहुत सारे मुसलमान जो मुहल्ले में रहते हैं उनके पुरखे कहीं बाहर से नहीं आए थे। वे यहीं के रहने वाले थे और धर्म-परिवर्तन कर लिया था।"[10] उपन्यास में लेखक धार्मिक मतभेद को लेकर चिंतित नज़र आते हैं। इस उपन्यास में ढल्लन सिंह नाम का एक गैर मुस्लिम

पात्र है जो अपनी मुस्लिम प्रेमिका से शादी करना चाहता है लेकिन दिक्कत ये होती है कि एक मुस्लिम लड़की से गैर मुस्लिम लड़का शादी नहीं कर सकता था। ढल्लन सिंह के प्यार के रास्ते में धर्म दीवार बनकर खड़ा हो जाता है लेकिन वह मुस्लिम धर्म को अपनाकर इस दीवार को गिरा देता है। ध्यातव्य है कि तथाकथित धर्म के ठेकेदार धर्म का ऐसा स्वरूप प्रदान कर उसे कट्टरता के करीब पहुँचा देता है जहाँ दो प्रेमी को आपस में शादी करने के रस्ते में भी धर्म जैसी खूबसूरत चीज बाधा उत्पन्न कर देता है। उक्त प्रसंग के मध्यम से लेखक मुस्लिम धर्म की कट्टरता को दिखाते हुए धर्म पर प्रेम की विजय को दिखाते हैं "उसने अपने धर्म को मोहब्बत पर कुरबान कर दिया था।"[11]

सन्दर्भ सूची:

1. के. दामोदरन, भारतीय चिंतन परंपरा, पृष्ठ-289
2. राज किशोर, भारतीय मुसलमान मिथक और यथार्थ, पृष्ठ-61
3. राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृष्ठ-185
4. वही, पृष्ठ-241
5. वही, पृष्ठ-244
6. शानी, काला जल, पृष्ठ-34
7. वही, पृष्ठ-20
8. मेहरुन्निसा परवेज, आँखों की दहली, पृष्ठ-68
9. वही, पृष्ठ-36
10. बदीउज़्ज़माँ, छाको की वापसी, पृष्ठ-34
11. वही, पृष्ठ-35

2.5. सांस्कृतिक परिदृश्य

प्राचीन काल से ही भारतवर्ष विविध संस्कृतियों का संगम स्थल रहा है। भारत की महान संस्कृति अपनी गोद में विभिन्न देशों से आये अनेक जातियों, जनजातियों एवं विभन्न धर्मों के लोगों को स्थान दी। समय-समय पर ये सभी भारत की पुन्य भूमि पर आते रहे हैं और साथ में अपनी संस्कृतियों को भी लाते रहे हैं। धीरे-धीरे ये सभी संस्कृतियाँ यहाँ की संस्कृति के साथ घुल-मिलकर एक हो गए जिसे भारतीय संस्कृति के नाम से जाना जाने लगा। विविधता में एकता भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। अलग-अलग संस्कृतियों के लोग एक-दूसरे के साथ यूँ घुल-मिलकर रहने लगे जैसे इनकी संस्कृति एक ही रही हो। एक-दूसरे की संस्कृति को न केवल अपनाया ही बल्कि एक-दूसरे से साझा भी किया। इस तरह संस्कृतियों का आदान प्रदान हुआ। आज मूल भारतीयों की संस्कृति का वही प्राचीन रूप नहीं रहा, उसमें काफी तब्दीलियाँ आ चुकी हैं, जिसका कारण आयातित संस्कृति का समावेश है। भारत में आर्य, अनार्य, शक, हुण, मुग़ल, मंगोल, तुर्क आदि विभिन्न नस्लों के लोगों के आने के बाद उनकी संस्कृतियों को यहाँ फलने-फूलने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ। इस प्रकार भारतीय संस्कृति का फैलाव विस्तार रूप ग्रहण किया और पूरे विश्व में विविध संस्कृतियों वाला महान देश होने का गौरव प्राप्त हुआ।

संस्कृति शब्द मूलतः 'संस्कार' शब्द से जुड़ा हुआ है। जिसका अर्थ संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना, साफ़ करना, परिष्कृत करना आदि समझा जाता है। हिंदी के संस्कृति शब्द को अंग्रेजी के 'कल्चर' शब्द के पर्याय के रूप में लिया जाता है। 'संस्कृति' को व्याख्यायित करते हुए श्यामचरण जी ने कहा है कि "संस्कृति मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों और योग्यताओं के तथा समाज के विकास का ऐतिहासिक निर्धारित स्तर है। यह स्तर लोगों के जीवन और कार्यकलाप के संगठन के रूपों एवं प्रकारों में तथा लोगों द्वारा निर्मित भौतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों में व्यक्त होता है।"[1] हिंदी शब्द सागर में संस्कृति शब्द का अर्थ माना गया है

"शुद्धि, मानसिक विकास, सफाई, संस्कार, सुधार, परिष्कार, सजावट, पूरा करना, रहन-सहन, भीतर-बहार से संस्कार की गई सभ्यता आदि।"[2]

मानक हिंदी कोश में संस्कृति शब्द का अर्थ "साफ़ करना, परिमार्जित करना, अलंकृत करना भाव आदि।"[3] हिंदी विश्वकोश में संस्कृति का अर्थ "शुद्धि, सफाई, संस्कार, सुधर, परिष्कार, सजावट, सभ्यता, रहन-सहन आदि।"[4] संस्कृति को परिभाषित करते हुए रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है कि "संस्कृति जीवन का एक तरीका है-परलौकिक, धार्मिक, अध्यात्मिक, राजनीतिक अभुदय के उपर्युक्त देहेंद्रिया, मन बुद्धि, अहंकरादी की भूषण भूत सम्यक चेष्टाएँ एवं हलचल ही संस्कृति है।"[5] संस्कृति को व्यख्यायित करते हुए यतीन्द्र सिंह लिखते हैं "संस्कृति हमारे जीने और सोचने की विधि में हमारी अन्तःस्थ प्रकृति की अभिव्यक्ति है। यह हमारे साहित्य में, धार्मिक कार्यों में, मनोरंजन और आनंद प्राप्त करने के तरीकों में भी देखि जा सकती है। संस्कृति के दो भिन्न उप-विभाग कहे जा सकते हैं-भौतिक और अभौतिक। भौतिक संस्कृति उन विषयों से जुड़ी है जो हमारी सभ्यता लाती हैं, जैसे हमारी वेश-भूषा, भोजन, घरेलु सामान आदि। अभौतिक संस्कृति का संबंध विचारों, आदर्शों भावनाओं और विश्वासों से है।"[6] भारत की सांस्कृतिक विरासत गौरवान्वित रही है। परन्तु आजादी के बाद भारतीय समाज परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था। दरअसल यह परिवर्तन अचानक आजादी के बाद नहीं हुआ। इसका आरंभ कुछ पहले से हो चुका था। परन्तु आजादी के बाद इसमें तेजी आई। देश आजाद हो चुका था। लोगों के मन में नई लालसाएं और उम्मीद की किरण जन्म ले चुकी थी। वैसे तो आधुनिकता के आगमन के साथ ही भारतीय समाज में परिवर्तन शुरू हो गया था। पश्चिम देश की तरफ लोगों की निगाहें गई और वहाँ की संस्कृतियों से प्रभावित होने लगे। आधुनिकता के साथ ही लोगों की सोच में भारी परिवर्तन आया जिससे सोचने समझने की पुरानी लीक से हटकर नई सोच का विकास हुआ। यह बदलाव एक तरफ पुरानी रूढ़ियों एवं रूढ़ परम्पराओं को तोड़ने में मदद की, वहीं दूसरी तरफ पश्चमी संस्कृति ने हमारा नुकसान भी किया। आजादी के बाद लोग एकल

परिवार की तरफ मुँह मोड़ दिया जबकि संयुक्त परिवार भारतीय संस्कृति की विशेषता थी। खान-पान में भी काफी बदलाव आ गया। वर्तमान समय में खान-पान की बदली संस्कृति ने लोगों के स्वास्थ को काफी हानि पहुँचाई है, जिसका खामयाजा वर्तमान समाज उठा रहा है। इसके अलावा वेष-भूषा में भी परिवर्तन हुआ। हम अपनी पारम्परिक वस्त्र से विमुख होकर पश्चमी परिधान को अपना लिए जिससे भारतीय संस्कृति से धीरे-धीरे पारम्परिक एवं सांस्कृतिक परिधान लुप्त होती चली जा रही है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में सांस्कृतिक परिवेश में आए बदलाव में मुख्य योगदान 'बाजारवाद' का भी रहा है। विशेषकर भूमंडलीकरण के बाद भारतीय बाजार में अत्यधिक परिवर्तन लक्षित किया गया। व्यक्ति के रहन-सहन में काफी बदलाव आ गया। अधिक से अधिक धन प्राप्ति की लालसा व्यक्ति को संवेदनहीन बना दिया और धन अर्जित करना एकमात्र उद्देश्य हो गया जिसके कारण नैतिकता का पतन हुआ लुट-खसोट, चोरी डकैती में इज़ाफा हुआ। एक और ज्ञान के नए वातायन खुले तो दूसरी और हमारी चिंतन परम्परा को घोर अघात पहुँचा। बदलते समय में बाजार का दबदबा इतना भयंकर हो गया कि पूंजीपति वर्ग लगातार धनी होते जा रहे हैं और निर्धन वर्ग कंगाल होते जा रहे हैं। ध्यातव्य है कि इस व्यवस्था ने प्रतिस्पर्धा, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी और असुरक्षा की भावना को बढ़ाया। आधुनिक सोच प्रतिस्पर्धा की होड़ ने स्वातंत्र्योत्तर भारत में सत्य, अहिंसा, मानवता, नैतिकता, मर्यादा, सादगी, शांति और संतोष जैसी सांस्कृतिक-मूल्यों की परिभाषा को बदल दिया। नई पीढ़ी ने इन मूल्यों को नकार कर स्वयं को मशीनीकरण में तब्दील कर लिया। इन सभी के पीछे कहीं न कहीं विज्ञान और तकनीक का भी योगदान रहा है- "अतः यदि कहा जाए तो मूल्य-विघटन की इस स्थिति को लाने में विज्ञान और प्रविधि के साथ-साथ टैक्नोलोजी और 'मुक्त बाजार' जहाँ मूल्य 'छल' में तर्क 'उन्माद' में और सृजन 'मनोरंजन' में बदल रहा है, जिम्मेवार है तो अत्युक्ति नहीं होगी।"[7]

मुस्लिम समाज भारत का अभिन्न हिस्सा है और उसकी संस्कृति भारतीय संस्कृति का अंग। हिन्दू समाज और मुस्लिम समाज में जमीन आसमान का अंतर नहीं है खासकर भारतीय परिवेश में। भले ही दोनों धर्मों के लोगों का रहन-सहन, रीति-रिवाज, शादी-ब्याह में अंतर है परन्तु इसके बावजूद भी दोनों में आपसी सौहार्द और गंगा-जमुनी की साझी सांस्कृतिक-समन्वय भी रहा है। खान-पान से लेकर तीज-त्योहारों एवं वेश-भूषा सभी पर दोनों समाज का एक-दूसरे पर असर दिखता है। आज के समय में बिरयानी, हलवा सिर्फ मुसलमानों के खान-पान का हिस्सा नहीं है अपितु हिन्दुओं में भी इसे उतने ही चाव से बनाया और खाया जाता है। खीर-पूरी मुसलमानों में भी पसंद की जाती है। मुस्लिम समाज की संस्कृति को समझने के लिए उस समाज के खान-पान, रीति-रिवाज को समझना जरूरी है।

त्योहार:

ईद: ईद भारतीय मुसलमानों का सबसे बड़ा त्योहार है। ईद का पूरा नाम है 'ईद-उल-फितर'। यह त्योहार मुस्लिम समाज में प्रत्येक वर्ष हर्ष-उल्लास और ख़ुशी लेकर आता है। ईद भाईचारे का पैगाम भी है। इस दिन हिन्दू-मुस्लिम सभी एक-दूसरे के गले लगते हैं और भाईचारे का पैगाम देते हैं। 'ईद' अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'ख़ुशी' दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है 'लौटना' और 'फिर' का अर्थ है 'खाना-पीना'। रमजान के पूरे महीने मुस्लिम समाज दिन भर खाना नहीं खाकर रहते हैं। पूरे महीने व्रत रखने के बाद ईद के दिन खाना-पीना शुरू करते हैं। ईद हर मुस्लिम के लिए एक भावना है। गरीब से गरीब मुस्लिम भी ईद के दिन ख़ुशी से इसे मनाते हैं। इस दिन मुसलमान किसी पाक़ साफ़ जगह पर जिसे ईदगाह कहते हैं, इकट्ठा होकर नमाज़ अदा करते हैं। ईद का दिन सभी के लिए समानता का सन्देश लेकर आता है। उस दिन अमीर-गरीब, छोटे-बड़े का अंतर मिट जाता है। सभी एक-दूसरे के बराबरी के स्तर पर मिलते हैं। ईद के दिन सभी के घर सेवैयाँ बनाने और खाने का रिवाज है। इस दिन बच्चे, बूढ़े, जवान-स्त्री-पुरुष सभी उत्साह से भरा हुआ होता है। परन्तु कई बार ईद पर कुछ परिवार मायूस भी नज़र आते हैं।

'छाको की वापसी' उपन्यास में लेखक ने दिखाया है कि गरीबों के लिए ईद दिवाली भी सामान्य दिन की तरह ही होती है क्योंकि उनके नसीब में खुशियाँ नहीं होती है- "ईद का दिन था। नमाज पढ़कर घर लौटा तो हबीब भाई ने कहा-"चलो गाँधी भाई के यहाँ से हो लें।" वहाँ पहुँचे तो लगा कि ईद इस घर में दाखिल ही नहीं हुई हैं। गाँधी भाई की अम्मा रोज़ की तरह ही चारपाई पर लेटी जोर-जोर से खांस रही थीं। भाभी ने भी कपड़े नहीं बदले थे और कई दिनों के मैले कपड़े पहने और मुँह फुलाए चारपाई पर बैठी थी। बच्चे नहाए-धोए भी नहीं थे और उदास चेहरे लिये घर में इधर-उधर घूम रहे थे।"[8]

शब-ए-बरात: मुस्लिम संस्कृति में शब-ए-बरात का त्योहार का अपना विशेष स्थान है। इस त्योहार में मृत व्यक्तियों के नाम फातिहा दी जाती है। जैसे हिन्दू धर्म में मृत व्यक्तियों के नाम पर पिंडदान किया जाता है। मुस्लिम धर्म में यह मान्यता है कि उस रात मृत परिजनों की रूह घरों में आती है इसीलिए सभी अपने घरों को साफ करके रखते हैं। इस रात सभी मुस्लिम परिवार अपने-अपने घरों में हलवा और रोटी बनाकर सभी के नाम पर चढ़ा कर उसके नाम का फातिहा पढ़ते हैं। फातिहा देने के पश्चात आस-परोस के घरों में हलवा रोटी देने का भी रिवाज होता है। शानी ने अपने उपन्यास 'काला जल' में शब-ए-बरात के त्योहार का यथार्थ चित्रण किया है। "यही है शबेकद्र-वह रात जो इबादत व दुआ की रात कहलाती है। यही है अजाब व गुनाहों से तौबा करने का बेशकीमती मौका, जब जन्नत के दरवाजे खुले होते हैं और जब सिर्फ एक रात की इबादत चार सौ बरस के सिजदे के बराबर होती है। लिहाजा जहाँ दो जून ठीक से रोटी का प्रबंध न हो सके, वहाँ फातिहा की इतनी सारी तैयारी छोटी फूफी ने कहाँ से कर ली, यह सोचना भी गुनाह में पड़ना था"[9] शानी ने इस त्योहार के वर्णन से न केवल इसके महत्त्व को उजागर किया है बल्कि यह भी स्पष्ट किया है कि गरीब से गरीब व्यक्ति भी त्योहारों के लिए किसी न किसी विधि सामग्रियों की व्यवस्था कर ही लेता है। त्योहारों की यही खूबसूरती है। परन्तु कई बार इस तरह के त्योहार गरीब तबकों के लिए गले का फाँस भी बन जाता है क्योंकि आर्थिक अभाव में जैसे तैसे

कर्ज लेकर त्योहारों को मनाकर फिर कई-कई दिनों तक उस कर्ज के बोझ में दबे रहना निर्धनों की नियति बन जाती है।

मुहर्रम: ईद एवं शब-ए-बरात के त्योहारों की तरह मुस्लिम समाज में मुहर्रम के त्योहार का भी विशेष महत्व है। यह कर्बला के मैदान में शहीद हुए हुसैन साहब की याद में मनाया जाता है। दरअसल लगभग तेरह सौ वर्ष पूर्व एक अप्रिय घटना घटी थी। रेगिस्तान के देश में कर्बला नामक जगह में फुरात नदी के किनारे हुसैन को उनके कई साथी के साथ भूखे प्यासे मार दिए गए थे। उस घटना के बाद मुस्लिम समाज विशेषकर सिया समुदाय प्रत्येक वर्ष उनकी याद में मातम मनाते हैं और मुहर्रम की ताजिया निकालते हैं। शानी ने ‘काला जल’ में मुहर्रम की ताजिया और उसके जुलूस की झांकी कुछ इस प्रकार चित्रण की है “गली के दोनों ओर कतार से बीस-तीस पेट्रोमेक्स उठाये औरतें चल रही हैं और उनके बीच घिरी हुई सारी भीड़ चली आ रही है - अव्वल में दो-तीन मर्सिया पढ़ने वाले लोग हैं, उनमें से एक के हाथ में माइक और सबके बीच मर्सिया की कोई किताब। उसके बाद मातम करने वाले लगभग तीस-पैंतीस लोगों का एक समूह है जो अमूमन घेरा बना कर चलता है। पीछे रिक्शा है, जिसमें एम्प्लिफायर और यूनिट लगा हुआ है और रिक्शे से ले कर मर्सिया पढ़ने वाले लोगों तक बीच में एक तार खिंचा हुआ है और इन सबके पीछे है दुलदुल...”[10] राही मासूम रज़ा के उपन्यास ‘आधा गाँव’ में मुहर्रम का जीवंत चित्रण प्रस्तुत हुआ है। शानी के बाद राही जी ने मुस्लिम समाज की संस्कृति को हिंदी उपन्यास के माध्यम से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया। इन रचनाकारों के पहले इस तरह से किसी ने कभी मुस्लिम समाज के त्योहारों का सजीव चित्रण नहीं किया था। राही जी अपने उपन्यास में मुहर्रम का न केवल यथार्थ चित्रण करते हैं बल्कि उसे जीते भी हैं। राही स्वयं उस समाज की उपज थे बचपन से ताजियों के जुलूसों को अपनी निगाहों से देखे थे इसीलिए जब वे अपने उपन्यासों में मुहर्रम के त्योहार का जिक्र करते हैं तो उसे सजीवता प्रदान करते हैं। मुहर्रम की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि “गंगौली के सय्यद-खानदानों में मुहर्रम एक रूहानी ईद से कम नहीं हुआ करता

था। नौहों की धुनें इस एहतियात से बनायी जाती थीं कि ईद की सिवैयाँ शर्मा जायें। भाई साहब एक महिना पहले ही से मातम की प्रैक्टिस शुरू कर देते। मुझे दोनों हाथों से मातम करना नहीं आता। भाई साहब मातम के कलाकार हैं। उन्होंने बहुत ज़ोर मारा कि मैं सीख लूं किसी तरह, लेकिन मैंने दोनों हाथों से मातम करने की कला सीखकर न दी।"[11] राही ने दिखाया कि मुहर्रम केवल मुसलमानों का त्योहार नहीं बल्कि वह हिन्दुस्तानियों का त्योहार है क्योंकि जब मुहर्रम की ताजियों का जुलुस निकलता है तब सिर्फ मुस्लिम महिलाएं ही नहीं अपितु हिन्दू महिलाएं भी मन्नते मांगती है। "एक साल तो ऐसा हुआ कि एक बेवा ब्राह्मणी की उलती मजदुरों की भूल से ज़रा कम निकली हुई थी। बड़ा ताज़िया उसे गिराये बिना गुजर गया। वह बेवा फूट-फूटकर रोने लगी कि इमाम साहब उससे रूठ गये हैं। इसीलिए ज़रूर कोई मुसीबत आने वाली है, नहीं तो भला ऐसा हो सकता था कि बड़ा ताजिया उसकी उलती गिराये बिना चला जाता। वह अपने दो बेटों को लेकर नूरुद्दीन शहीद के मज़ार पर गई। उसने बेटों को बड़े ताजिये के सामने खड़ा कर दिया, फिर उसने ताजिये की अनदेखी आँखों-में-आँखें डाल दीं और बोली, 'हे इमाम साहिब! हमार लइकन के कछऊ हो गइल त ठीक न होई! फिर उसने हम्माद मियाँ को घेरा, "चलो मीर साहिब! हमार उलतीया गिरवाये लेई!"[12] राही जी ने सही लिखा था मुहर्रम का संबंध रूह से है तभी तो अपने वतन से दूर रहने की स्थिति में 'छाको की वापसी' उपन्यास में छाको अपने गाँव के मुहर्रम के लिए तरस जाता है। भले ही उसका शरीर पाकिस्तान में रहता है लेकिन उसकी रूह यहीं गाँव में रहती है। मुहर्रम का त्योहार उसके लिए किसी भी प्रिय चीज से भी महत्वपूर्ण है। वह जब भी अपनी बहन जनवा को ख़त लिखता है मुहर्रम का जिक्र ज़रूर करता है। बदीउज़्ज़माँ ने छाको के माध्यम से मुस्लिम समाज के इस त्योहार की महत्ता को दिखाया है। छाको अपनी ख़त में लिखता है- "आज मुहर्रम का चार है। सात मुहर्रम को अखाड़ा निकलेगा दस को ताजिया उठेगा। हम रहते तो पैक बनाते। हमारी किस्मत अच्छी नहीं है। मोहल्ले के सब लोग मुहर्रम वास्ते आ गये होंगे। हम परदेस में पड़े हुए हैं। कलकत्ता रहते तो जरूर आ जाते। यह जगह बहुत दूर है।

पैसा-कौड़ी भी नहीं है।"[13] उक्त कथन से छाको का मुहर्रम के प्रति जुड़ाव को महसूस किया जा सकता है। बदीउज़्ज़माँ ने बड़ी चालाकी से छाको के ख़त के माध्यम से मुहर्रम की सुन्दरता और उसके प्रति मुस्लिम समाज की भावना को हमारे सामने व्यक्त कर दिया है। इस तरह की सुन्दरता बदीउज़्ज़माँ जी के यहाँ ही मिलती है। वे एक ऐसे मझे हुए लेखक हैं जिनके यहाँ यथार्थ को हू-ब-हु रूप प्रदान करने का हुनर आता है। छाको के जीवन में मुहर्रम की क्या महत्ता है, उसके ही कथन से मालूम किया जा सकता है- "मुहर्रम का अखाड़ा कैसा निकला, लिखियो। कई मेर बाजा था। इब्राहीम उस्ताद आ गए होंगे मुहर्रम करने वास्ते। बत्ती वाले कितने थे? रोशनी का फाटक था या नहीं? शहर में हमारे अखाड़े का पहला नम्बर रहा या नहीं? सब बात लिखिएगा। हमारी तरफ़ से मुहर्रम का चंदा दे दिया होगा। हमारा दिल तड़पता है। हम भी आते। अखाड़े के साथ रहते। लेकिन मजबूर हैं। अल्लाह को मंजूर नहीं कि हम आएँ। सबको सलाम दुआ।"[14]

रीति-रिवाज: कोई भी समाज रीति-रिवाजों से मुक्त नहीं होता है। प्रत्येक समाज के अपने रीति-रिवाज और संस्कार होते हैं। भारतीय संस्कृति इस मामले में विश्व की सभी संस्कृतियों से धनी है। हिन्दू समाज के समक्ष मुस्लिम समाज के भी अपने कुछ रीति-रिवाज हैं। भले ही इस्लाम रस्मों-रिवाजों का विरोध करता है। कुरान में किसी रस्म का विवरण नहीं है। ध्यातव्य है कि दो संस्कृतियों के मिलने से यह लाभ हुआ कि वह एक-दूसरे से बहुत कुछ ग्रहण किया। अतः यह कहना अतियुक्ति नहीं होगा कि मुस्लिम समाज में कई रीति-रिवाज हिन्दू धर्म से ही ग्रहण किये गए हैं और कालांतर में उसे अपना बताते हैं। बहरहाल जो भी हो संस्कृतियों का आदान-प्रदान एक-दूसरे के लिए फायदेमंद ही साबित होता है। स्वातंत्र्योत्तर मुस्लिम उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में त्योहारों के साथ मुस्लिम समाज की रीति-रिवाजों का भी यथार्थ चित्रण किया है।

जन्म-संस्कार: मुस्लिम समाज में कुछ जन्मगत संस्कार भी है। जब कोई बच्चा जन्म लेता है तब उसके कान में अजान का शब्द सुनाया जाता है। मुस्लिम समाज में पुत्र की तरह पुत्री

के जन्म को भी हर्षो उल्लास के साथ महत्व प्रदान करता है। मुस्लिम समाज में पुत्र का खतना करने का रिवाज है। जन्म के 3 वर्ष के बाद से 10 वर्ष के भीतर लड़का का खतना किया जाता है। इस अवसर पर चाहे तो भोज का भी आयोजन किया जाता है। 'छाको की वापसी' उपन्यास में खाजे बाबु के छोटे भाई का खतना करने का जिक्र लेखक ने किया है जिसमें खाजे बाबु के पिता अपने छोटे बेटे की खतना के अवसर पर आसपास के सभी को भोज खिलाते हैं। "जब छोटे भाई का खतना हुआ था तो अब्बा ने बड़ी शानदार दावत का इंतज़ाम किया था। शहर के सारे लोगों को खाना खिलाया गया था।"[15]

शादी-ब्याह: प्रत्येक समाज में शादी-ब्याह का विशेष महत्व होता है। मुस्लिम समाज में विवाह को 'निकाह' कहा जाता है। यह शब्द अरबी भाषा का है। निकाह के समय जिस पत्र पर शर्ते लिखी जाती हैं उसे 'निकाहनामा' कहा जाता है। यही वो शर्त है जो मुस्लिम समाज को हिन्दुओं की रीति से अलग करती है, क्योंकि मुस्लिम समाज में शादी हिन्दुओं की तरह कोई धार्मिक अर्थ में न लेकर उसे महज़ एक समझौता के रूप में समझा जाता है। यह एक सामाजिक संस्था है। एक ऐसी व्यवस्था है जिसके तहत व्यक्ति का सामाजिक जीवन सुचारू रूप से संचालित होता है। सभी धर्मों में इस व्यवस्था को अलग अलग रीति-रिवाजों के साथ मनाया जाता है। शानी ने अपने उपन्यास 'काला जल' में शादी-ब्याह की रस्मों को बेबाकी ढंग से चित्रण किया है। "महज़र की ओर एक पलक के लिए ठिठक कर, बी-दारोगिन रज्जू मियाँ के साथ साथ, धीरे से तीन बार दुहराती हैं, "कबूल किया, मैंने अपने निकाह में..." बाहर मिश्री-छुहारे लुटाये जाते हैं और बच्चों के साथ बूढ़े-बुजुर्ग और मुक़द्दस दाढ़ी वाले मेहमान भी लुट में हाथ बंटाते हैं। जिसके हाथ जो कुछ आता है, वह मुस्कुरा कर कुंवारों से पहले चबाता है और नाकामयाब, मायूसी में अपनी गोद, अगल बगल और जाजिम के नीचे का फर्श टटोलते हैं।"[16] मुस्लिम समाज में निकाह के वक्त माँ-बाप तथा दो सगे संबंधियों का होना अनिवार्य होता है। निकाह की रस्म पूरी होने के कई सारी रस्म हिन्दुओं की तरह ही है। जैसे हल्दी की रस्म, जूता

चुराने की, नेग लेने की, वर के साथ सहबलिया जाने की, लोकगीतों की आदि। इस तरह मुस्लिम समाज की निकाह में मिलीजुली संस्कृति को देखते हैं। जिस तरह हिन्दुओं में वर पक्ष दुल्हन के घर बरात लेकर जाते हैं उसी तरह मुस्लिम समाज में भी बरात लेकर जाने की रस्म है। 'काला जल' में शानी ने छोटी फूफी और रोशन फूफा की शादी का सजीव वर्णन कर मुस्लिम समाज की वैवाहिक-रस्म की एक-एक सुन्दर छवि प्रस्तुत की है। ऐसी रस्म जो लगभग हर भारतीय मुसलमानों में थोड़ी बहुत अन्तर के साथ निभाई जाती है। शादी की कुछ रस्मों का चित्रण शानी ने इस प्रकार की है:-

1. "“अरे संदल लाओ!” किसी ने जोर से चिल्ला कर कहा। पर बगल के नीचे से छोटी फूफी की बांह पकड़ कर फिर कसी ने रोक लिया। भाग-दौड़ मची, कुछ लोग भीतर-बहार हुए उअर अंत में एक सासर में संदल ले कर कोई आया।"[17]
2. "हाय, अल्लाह! इतने ज़रा से संदल को किसकी नाक में सुंघाऊँ!" ससार हाथ में लेकर संदल वाली ने मुस्कुराकर व्यंग किया।..."[18]
3. "ऐ बीबी, क्या संदल से नहाओगी? दस्तूर है, उसे किसी तरह निभाओ!"[19]
4. "दोनों दुल्हे-दुल्हन की हथेलियों में ज़रा ज़रा संदल लगाया गया और रोशन फूफा ने छोटी फूफी का संदल वाला हाथ उठा कर, चौखट के ऊपर वाली दीवार पर ऐसे धर दिया कि वहाँ निशान रह जाये।"[20]

इसके साथ ही शानी दुवार छेकाई और नेग लेने की दस्तूर का भी चित्रण किया है। "भीतर घुसने से पहले ही मोहल्ले पड़ोस के कुछ लोग राह रोककर अड़ गए, कि उनका नेग नहीं दिया गया। पहले रज्जू मियाँ भी अड़ गए, इधर-उधर करके टालना चाहा कि रास्ता-वास्ता रोकने का दस्तूर बहुत हो चुका, इस तरह खामख्वाह परेशान करने से क्या फायदा?...जैसे-तैसे रज्जू मियाँ के हाथ से आठ आने छूटे, व्यंग और हँसी के बाद वह एक रूपया हुआ, और अंत में जब

पड़ोसी बिना उसे स्वीकार किये यूँ ही राह छोड़कर हटने लगे तो उनकी नाराजगी के भय से, शरमा शरमी दो रुपये दिए गए"[21]

मृत्यु संबंधित रस्में: प्रत्येक समाज में जन्म-मरण से संबंधित रस्में अलग-अलग होती हैं। हिन्दू धर्म में मरने के पश्चात् मृत शरीर को अग्नि के हवाले कर दिया जाता है। मुस्लिम समाज में कब्र में दफनाया जाता है। इसाई में भी दफनाया जाता है। अंतिम संस्कार के बाद भी बहुत सारी रीतियों का पालन करना पड़ता है। शानी जी अपने उपन्यास 'काला जल' में मुस्लिम समाज की मृत्यु से संबंधित रीति-रिवाजों को विस्तार से प्रस्तुत किया है। मिर्जा की मृत्यु के बाद उनके घर कई रस्में निभाई जाती हैं जिसमें से एक है चहल्लुम मनाना। इस रीति के अनुसार चालीसवें दिन सभी को खाना खिलाने का रिवाज है। शानी ने चहल्लुम का कुछ इस प्रकार चित्रण किया है "मिर्जा के चहल्लुम में बहुत से मेहमान घर पर आये थे। पास-पड़ोस की औरतें और बच्चों के अलावा दूर-दराज और कसबे के लोग भी काफी थे, और इन सब की अवा जाही सुबह से शुरू हो गई थी। बी दारोगिन को किसी बात का होश न था। वह एक कोने में बैठी जोर-जोर से रो रही थी, और दो-एक औरतें आंसू भरी आँखें लिए उन्हें समझा रही थी।...आँगन में चहल्लुम के पुलाव के लिए मन डेढ़ मन उम्दा चावल धुल रहे हैं और एक ओर तीन जिबह किये बकरे छिले जा रहे हैं।"[22] किसी की मृत्यु के बाद जिस जगह पर उसे नहाया-धोया जाता है उसे लहद कहते हैं। मुस्लिम समाज की रीति अनुसार उस जगह पर चालीस दिन तक रोशनी की जाती है। शानी ने उस रश्म को भी अपने उपन्यास में चित्रण किया है। "मिर्जा को आँगन के जिस कोने पर गुसल दिया गया था, उसकी लहद पर चालीस दिन तक दीया जलता रहा। रोज़ सरेशाम उसकी दीया-बाती वही करती थी। खेलते हुए रोशन को पुकार कर उसके हाथ-मुँह धुलवाती और उसके हाथों लहद पर चिराग रखवा कर सिरहाने अगरबत्ती खांस दिया करती"[23]

सारतः यह कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर भारत की आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितयों में उथल-पुथल देखने को मिलती है। आजाद होने के बाद भारत अपने

पैरों पर खड़ा होने की जद्दोजहद कर रहा था। जाहिर है इसमें वक्त लगा और इस दौरान हमें कई बार पड़ोसी मुल्कों से युद्ध भी लड़ने पड़े। इसके बावजूद भी भारत अपने सपनों को साकार करते चला गया और एक स्थाई लोकतंत्र वाला देश बना। इस क्रम में मुस्लिम समाज की आर्थिक, शैक्षिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थिति दयनीय एवं सोचनीय रही है। मुस्लिम समाज का प्रतिनिधित्व आज भी राजनीति में औसतन कम है। सामाजिक दृष्टि से मुस्लिम समाज आज भी दोहरी नागरिकता का शिकार है, वोट बैंक के रूप में आज भी इनका तुष्टिकरण हो रहा है। धार्मिक दृष्टिकोण से मुस्लिम समाज को हिंदुस्तान में थोड़ी-बहुत दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से मुस्लिम समाज समृद्ध हैं, उपन्यासों में भी मुस्लिम समाज के तमाम त्योहारों का सुन्दर प्रयोग देखने को मिला है।

संदर्भ सूची:

1. श्यामचरण दुबे, मानव और संस्कृति, पृष्ठ-22
2. हिंदी शब्द सागर-10, पृष्ठ-4896
3. मानक हिंदी कोश, पृष्ठ-243
4. नागेन्द्र नाथ बसु, हिंदी विश्वकोश, पृष्ठ-440
5. मंगलदेव शास्त्री, भारतीय संस्कृति का विकास, पृष्ठ-4
6. यतीन्द्र सिंह, मुस्लिम कथाकार और भारतीय समाज, पृष्ठ-85
7. (सं), प्रवीन उपाध्याय, आजकल (पत्रिका), जनवरी(2006), पृष्ठ-07
8. बदीउज़्ज़माँ, छाको की वापसी, पृष्ठ-98
9. शानी, काला जल, पृष्ठ-10
10. वही, पृष्ठ-202
11. राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृष्ठ-18
12. वही, पृष्ठ-71
13. बदीउज़्ज़माँ, छाको की वापसी, पृष्ठ-104
14.वही, पृष्ठ-105
15. वही, पृष्ठ-62
16. शानी, काला जल, पृष्ठ-49
17. वही, पृष्ठ-72
18. वही, पृष्ठ-73
19. वही, पृष्ठ-73
20. वही, पृष्ठ-73
21. वही, पृष्ठ-73
22. वही, पृष्ठ-34
23. वही, पृष्ठ-36